मीडिया का अंदरखाना

अभिषेक दास
मीडिया चिंतक

संपर्क : रोड नं. 11,
क्वाटर नं-19,
गर्दनीबाग,
पटना-800020 (बिहार)

पुस्तक : महिला, जाति और जुगाड़
लेखक : संजय कुमार
प्रकाशक : प्रभात प्रकाशन, नई दिल्ली
पृष्ठ : 142
मूल्य : ₹ 250

शायद आप तहलका की उस महिला पत्रकार की कहानी भूल चुके होंगे, जिसने पत्रिका के संस्थापक तरूण तेजपाल के खिलाफ मजबूती से लड़ना तय किया था, आप उस वाकूया को भी भूल चुके होंगे कि, किन परिस्थितियों में इंडिया टीवी की एंकर तनु शर्मा ने जहर खाकर अपने कार्यालय में ही आत्महत्या करने की कोशिष की थी। वह राष्ट्रीय सर्वेक्षण भी भूला दिया होगा जिसमें भारतीय मीडिया का जातिवादी चरित्र उभकर सामने आया है। ऐसी चीजें भूलाने के लिए होती हैं जो मीडिया पर सवाल खड़ा करती है। शायद ही कोई अपने अक्स को शीशे में देखने की जहमत उठाने का साहस दिखा पाता है लेकिन इस बिंदु पर वरिष्ठ पत्रकार संजय कुमार ने नैतिक साहस दिखाया है।

अपनी सद्यः प्रकाशित पुस्तक 'मीडिया : महिला, जाति और जुगाड़' में संजय कुमार ने मीडिया के अंदरखाने की पड़ताल की है। एक चकाचौंध भरी दुनिया का सच कितना स्याह हो सकता है, यह पुस्तक पढ़ने के बाद समझ में आती है। पुस्तक उस विमर्श को आगे बढ़ाती है, जिसे मीडिया जगत से जुड़े लोग बार-बार दबाते हैं। इस पुस्तक में मीडिया हाउस के अंदर की तस्वीर है, जो आमलोगों के सामने बहुत ही कम आ पाती है। हालांकि सोशल मीडिया के आने के बाद ये तस्वीरें आमलोगों के सामने आई हैं लेकिन विमर्श आगे नहीं बढ़ सका। मीडिया से जुड़ी महिलाओं के यौन-शोषण की खबरें सोशल-साइट्स पर आती रहती हैं, वायरल होती हैं, लोग चटखरे लेकर पढ़ते हैं, भद्दे कमेंट्स करते हैं और फिर इस प्रकरण का अंत हो जाता है। मूल मुद्दा पीछे ही छूट जाता है कि आखिर ऐसा क्यों हो रहा है; मीडिया हाउसों के भीतर? सिर्फ यौन शोषण ही नहीं बल्कि कई ऐसे विचारणीयता और साख पर सवाल खड़े करते हैं। कितना औचित्य है; मीडिया राम-रहीम जैसे टुच्चे बाबाओं द्वारा यौन शोषण से जुड़े मुद्दों को उतने जोर-शोर से उठाता है कि जन सरोकार से जुड़ी कई खबरें बियावान में चली जाती हैं। लेकिन महिला पत्रकार अपने सहकर्मियों पर प्रताड़ित करने का आरोप लगाते हुए खुदकुशी की कोशिश करती है तो वह खबर सिरे से गायब हो जाती है। पुस्तक में ऐसे कई मुद्दों को लेखक ने न सिर्फ उठाया है बल्कि उसे विमर्श का स्वरूप देने की कोशिश की है। समाज और राजनीति में महिलाओं की भागीदारी, दलित और अल्पसंख्यकों की स्थिति पर चर्चा मीडिया का प्रमुख विषय रहा है। मीडिया, अक्सर समाज और सरकार को आइना दिखाने की कोशिश करती रही है लेकिन मीडिया में महिला और वंचितों की भागीदारी पर कोई चर्चा नहीं करना चाहता। मीडिया कर्मी संजय कुमार की पुस्तक 'मीडिया : महिला, जाति और जुगाड़' मीडिया पर जमीं उस परत को खोलने की एक कोशिश तो है ही साथ ही काफी बोल्ड विषयों सहित कई सवालों को लेकर आया है।

चौबीस अध्यायों में विभक्त यह पुस्तक मीडिया जगत की चिंताओं पर फोकस करती है। पहले अध्याय में मीडिया को आइना दिखाने की कोशिश है। कई घटनाओं का जिक्र करते हुए मीडिया को आइने में अपना चेहरा देखने की अपील की गई है। मीडिया हाउसों में यौन शोषण की घटनाएं जिस तरह से आम हुई हैं, वह विचारणीय है। ऐसी घटनाओं को मुख्यधारा की मीडिया में जगह नहीं मिल पाना भी चिंतनीय है। पुस्तक के पहले अध्याय 'आईने में अपना चेहरा भी देखे मीडिया', में इन्हीं मुद्दों की विश्लेषणात्मक पड़ताल की गई है। लेखक ने इस अध्याय में कई ऐसे प्रसंगों का उल्लेख किया है जो साफ तौर पर बताता है कि मीडिया संस्थानों में यौन शोषण के खिलाफ आवाज उठाने वाली महिलाओं को अन्य सहकर्मियों का भी साथ नहीं मिल पाता है। लेखक ने कई ऐसे संदर्भों की चर्चा की है जो मीडिया के महिला प्रेम की पोल खोलता है। सिर्फ नए प्रसंगों के द्वारा ही नहीं बल्कि भारत में इलेक्ट्रॉनिक चैनलों की शुरुआत के साथ ही शुरू हुई इस परिपाटी का इस अध्याय में जिक्र है। महत्वाकांक्षा को पूरा करने में महिलाएं किस तरह भ्रमित होती हैं, किस तरह उन्हें फंसाया जाता है और ऐसी परिस्थितियों में महिलाएं कैसे काम कर पाती हैं... इन सब पर गहराई से पड़ताल की गई है। लेखक, मीडिया में यौन शोषण के खिलाफ स्त्री विमर्श आंदोलन की चुप्पी को एक पंक्ति में समेट देते हैं- ''मीडिया के महिला प्रेम से उत्पन्न सवाल, स्त्री-विमर्श आंदोलन से माफी चाहता है।'' कितना जटिल सत्य छुपा है इस एक पंक्ति में, इस पर गहन मंथन की जरूरत है।

पुस्तक के एक अध्याय में लेखक ने एक नवोदित

महिला पत्रकार की कहानी को जगह दी है। ये कहानी आहत करती है। आप पत्रकारिता की शुरुआत करने की सोंचे और आपका कदम-कदम पर वहशी दरिंदों की नजरों से दो-चार होना पड़े, कितना कठिन सफर है।

पुस्तक में सुप्रीम कोर्ट द्वारा कामकाजी महिलाओं को यौन अपराध, उत्पीड़न और प्रताड़ना से बचाने के लिए दिए गए विशाखा दिशा-निर्देशों की एक अलग अध्याय में चर्चा की गई है। इन दिशा-निर्देशों के सभी पहलुओं पर लेखक ने विस्तार से प्रकाश डाला है। लेकिन लेखक ने इस बात की पड़ताल नहीं की है कि इस दिशा-निर्देशों के लागू होने के बाद जमीनी स्तर पर क्या कुछ बदलाव आया? लेखक यदि इस पहलू पर भी गौर करते तो ये महत्वपूर्ण अध्याय और भी अधिक प्रभावी हो सकता था।

पत्रकारिता में शीर्ष पद पर महिलाओं की नगण्य उपस्थिति पर भी लेखक ने चिंता जाहिर की है। खासकर प्रिंट मीडिया में मृणाल पांडेय के बाद सचमुच कोई महिला पत्रकार नजर नहीं आती जो शीर्ष पद तक पहुंची हो। इलेक्ट्रॉनिक मीडिया की स्थिति इस मायने में जरूर थोड़ी बेहतर है। ये प्रश्न विचारणीय हैं और इसका उत्तर उस पुरुषवादी सोच को ढूंढ़ना होगा जो उच्च पदों को अपनी जागीर समझता है। हालांकि इस अध्याय में ऐसे छोटे-छोटे प्रसंगों का उल्लेख है जो हमें आश्वस्त करता है कि महिलाएं अपने दम पर भी कुछ करने का हौसला रखती है। बिहार के राम लीलागाछी गांव की महिलाओं द्वारा शुरू की गई 'अपना समाचार' चैनल की कहानी सचमुच प्रेरणादायी है। यह बात भी अच्छी लगी कि लेखक खुद इस बात को लेकर सकारात्मक है कि आने वाले दिनों में मीडिया पर आधी आबादी का कब्जा होगा।

मीडिया में दलितों की भागीदारी के सवाल को पुस्तक में प्रमुखता से उठाया गया है। लेखक का स्पष्ट मानना है कि भारतीय मीडिया परिदृश्य में जाति एक कड़वी सच्चाई है और यह द्विजों के आसपास सिमटा हुआ है। लेखक आंकड़ों का हवाला देते हुए कहते हैं कि

पुस्तक उस विमर्श को आगे बढ़ाती है, जिसे मीडिया जगत से जुड़े लोग बार-बार दबाते हैं। इस पुस्तक में मीडिया हाउस के अंदर की तस्वीर है, जो आमलोगों के सामने बहुत ही कम आ पाती है। हालांकि सोशल मीडिया के आने के बाद ये तस्वीरें आमलोगों के सामने आई हैं लेकिन विमर्श आगे नहीं बढ़ सका। मीडिया से जुड़ी महिलाओं के यौन-शोषण की खबरें सोशल-साइट्स पर आती रहती हैं, वायरल होती हैं, लोग चटखरे लेकर पढ़ते हैं, भद्दे कमेंट्स करते हैं और फिर इस प्रकरण का अंत हो जाता है। मूल मुद्दा पीछे ही छूट जाता है कि आखिर ऐसा क्यों हो रहा है; मीडिया हाउसों के भीतर? सिर्फ यौन शोषण ही नहीं बल्कि कई ऐसे विचारणीयता और साख पर सवाल खड़े करते हैं।

देश की कुल जनसंख्या का मात्र आठ प्रतिशत होने के बावजूद ऊंची जातियों का मीडिया हाउसों में 71 प्रतिशत शीर्ष पदों पर कब्जा बना हुआ है। एक राष्ट्रीय सर्वे का हवाला देते हुए लेखक पुस्तक के माध्यम से बताते हैं कि मीडिया में 49 प्रतिशत बाह्मण, 14 प्रतिशत कायस्थ, वैश्य, जैन और राजपूत 7-7 प्रतिशत, खत्री 9 प्रतिशत, गैर द्विज उच्च जाति 27 और अन्य पिछड़ी जाति 7 प्रतिशत कार्यरत हैं। इस वर्गीकरण का भी कई अन्य श्रेणियों में उप-वर्गीकरण भी किया गया है। यानी उस बात को स्थापित करने का प्रयास किया गया है कि मीडिया में द्विजों का बोलबाला है। लेखक ने इन कारणों का भी बिंदुवार विश्लेषण किया है कि जिस कारण अन्य पिछड़ा वर्ग और दलित समुदाय के लोगों को इस क्षेत्र में अभी तक सही प्रतिनिधित्व नहीं मिला है। इस विषय पर भी गहन चर्चा की गई है कि किस तरह प्रकाशन संस्थान दलितों, पिछड़ों और हाशिए के लोगों से जुड़े मुद्दों की उपेक्षा करते हैं। उदाहरण सहित और ब्यौरेवार। हालांकि लेखक इस बात को लेकर आश्वस्त है कि ये परिस्थिति बदलेगी क्योंकि इन जातियों में एक चेतना आई है और अब वे अपने अधिकारों के लिए पहले की तुलना में अधिक मुखर हुए हैं। अमेरिका में अश्वेतों को पत्रकारिता के क्षेत्र से जोड़ने के लिए 1975 में की गई पहल का जिक्र करते हुए लेखक के मन में एक आश्वस्त का भाव है कि भारत में भी ऐसे सुधारवादी कदम उठाए जाएंगे। लेखक संजय कुमार खुद दलित मुद्दों पर आवाज उठाने के लिए जाने जाते हैं और उन्होंने मीडिया में दलितों की भागीदारी पर केंद्रित पुस्तक 'मीडिया में दलित ढूंढ़ते रह जाओगे' भी लिखी है। जाहिर सी बात है कि इस मुद्दे पर उनकी काफी पकड़ है और यह पकड़ समीक्ष्य पुस्तक में भी दिखती है। लेखक ने मीडिया के जाति प्रेम का खुलासा कर विमर्श की वकालत की है।

'कहां से आएंगे अच्छे पत्रकार' नामक शीर्षक से लिखे गए अध्याय में लेखक ने वर्तमान संदर्भ में पत्रकारों की स्थिति की गहरी पड़ताल की है। समय के साथ हुए बदलावों का क्या, कैसा और कितना असर पत्रकार एवं पत्रकारिता पर हुआ है, इन सबका गहन विश्लेषण किया गया है। पत्रकारों के शोषण और उसके प्रभाव पर भी प्रकाश डाला गया है। कम पैसे में भी काम करने के लिए तैयार लोगों की फौज ने पत्रकारिता के स्तर को गर्त में धकेल दिया है। साथ ही, इस अध्याय में लेखक विश्वविद्यालयों और अन्य संस्थानों में पत्रकारिता की पढ़ाई के स्तर पर भी सवाल खड़े करते हैं। अच्छे पत्रकारों को मौका नहीं मिलने पर भी लेखक ने चिंता जाहिर की है। इसके ठीक अगले अध्याय में लेखक ने उन सभी बातों की गहरे से तफ्तीश की है जो नए

पत्रकारों के लिए जरूरी है। मीडिया घरानों द्वारा नियुक्ति प्रक्रिया में पारदर्शिता की कमी को लेखक ने एक प्रमुख कारण माना है जिसके चलते योग्य लोगों को इस क्षेत्र में आने का मौका नहीं मिल पाता है।

मीडिया जगत में फैले भ्रष्टाचार पर भी इस पुस्तक में गहन चर्चा की गई है। नीरा राडिया प्रकरण द्वारा लेखक ने इस बात को प्रमाणित करने की कोशिश की है कि किस तरह ऊंचे पदों पर बैठे पत्रकार अपने प्रभाव का इस्तेमाल कर अपनी झोली को भरते हैं। लेखक इस बात पर भी अफसोस जाहिर करते हैं कि जब मीडिया में भ्रष्टाचार की बात आती है तो पंचायत, तहसील और जिला स्तर के पत्रकारों की बात होती है। ऊंचे पदों पर बैठे पत्रकारों के भ्रष्टाचार में लिप्त होने की बात कोई नहीं करता। बड़े ही पारदर्शी तरीके से लेखक ने इस बात को स्थापित करने की कोशिश की है कि छोटी जगहों पर नियुक्त पत्रकार अपने आर्थिक शोषण के कारण भ्रष्टाचार की दलदल में फंसते चले जाते हैं।

मीडिया संस्थानों की प्रबंधन व्यवस्था के बदलते स्वरूप पर 'मीडिया स्वामी, मीडिया मुगल में तब्दील', शीर्षक के अंतर्गत विशेष व्याख्या की गई है। आजादी के दौर की पत्रकारिता से लेकर आज के कॉरपोरेट युग की पत्रकारिता तक के बदलाव का चित्रण है इस अध्याय में। संपादक नाम की संस्था में हुए बदलावों और इसके पत्रकारीय मूल्यों पर प्रभाव का बेहतर विश्लेषण किया गया है। लेखक का स्पष्ट मानना है कि आज के दौर में मीडिया संस्थानों का मूल्यों और आदर्शों से कोई वास्ता नहीं रह गया है। उनका एक ही मकसद होता है-हर हाल में मीडिया साम्राज्य को फैलाना और विज्ञापनों के माध्यम से अधिक से अधिक राजस्व की उगाही करना। इसका कारण साफ है-मीडिया आज के संदर्भ में एक व्यवसाय से अधिक कुछ और नहीं है।

लेखक मीडिया नियमन और स्वनियमन की भी बात करते हैं। इस मुद्दे पर मीडिया संस्थानों के दोहरे रूख की आलोचना करते हुए लेखक का स्पष्ट मानना है कि इस मामले पर मीडिया अपने हित को ध्यान में रखकर अपना रूख तय करता है। इस अध्याय के निष्कर्ष के तौर पर कहा जा सकता है कि लेखक मीडिया पर पाबंदी के खिलाफ तो है लेकिन उनकी मीडिया से यह अपेक्षा है कि एक ऐसा बीच का रास्ता निकलना चाहिए जहां पत्रकारिता की वस्तुनिष्ठता और निष्पक्षता पर कोई सवाल नहीं खड़े कर सके और इसके लिए वे मीडिया के अंदर से ही पहल की जरूरत महसूस करते हैं।

सोशल साइट्स की पत्रकारिता, निजी जीवन में मीडिया की दखलंदाजी जैसे मुद्दों पर केंद्रित अध्याय भी पुस्तक में है। लेखकीय चिंता इस बात को लेकर भी है कि किस तरह सनसनीखेज खबरों के दौर में जमीन से जुड़े लोकहित के मुद्दे और विकास पत्रकारिता की उपेक्षा हो रही है। जन सामान्य के हितों की अनदेखी हो रही है।

सामाजिक न्याय के विषय पर भी पुस्तक में एक समर्पित अध्याय है। बिहार के पूर्व मुख्यमंत्री जीतन राम मांझी के बहाने लेखक ने इस बात की बारीक से पड़ताल की है कि किस तरह द्विज पत्रकारिता एक दलित मुख्यमंत्री पर भारी पड़ा। लेखक का मानना है कि श्री मांझी के इस्तीफे के लिए उस समय उनके खिलाफ की पत्रकारिता भी एक हद तक दोषी थी। हालांकि यह लेखक का अपना नजरिया है लेकिन यह हमें सोचने को जरूर विवश कर देता है कि क्या सचमुच जाति देखकर पत्रकारिता के तेवर बदल जाते हैं? यदि सचमुच ऐसा है तो यह स्थिति अत्यंत दुर्भाग्यपूर्ण कही जाएगी।

लेखक ने पुस्तक में एक ऐसे मुद्दे को भी उठाया है जिसकी चर्चा तो सभी करते हैं लेकिन उसे विमर्श के लायक नहीं समझते। वह है-जुगाड़ संस्कृति। मीडिया हाउसों में भाई-भतीजावाद यानी घुसपैठ द्वारा प्रवेश पाने को पुस्तक में प्रमुखता से उठाया गया है कि कैसे मीडिया में जुगाड़ का खेल चलता है।

कुल मिलाकर इस पुस्तक में मीडिया के अंदर की वास्तविकताओं को लेखक ने आम लोगों के सामने लाने का प्रयास किया है। लेखक संजय कुमार ने पुस्तक के जरिए सवाल उठाया है कि मीडिया मूल विषय से भटक गई है। यही कारण है कि मीडिया में जाति और जुगाड़ का खेल हॉवी हो गई है। महिलाएं, मीडिया मालिकों के यौन शोषण का शिकार हो रही हैं। जबकि कृषि, स्वास्थ्य, शिक्षा, रोजगार, जागरूकता जैसे सवाल गुम होने लगे हैं। इस पुस्तक में जिक्र है कि मीडिया, जनता को किस तरह से इस्तेमाल किया करती है। उन पर सवाल किया करती है लेकिन इसमें जनता भी मीडिया पर सवाल खड़ा कर रही है।

लेखक की मंशा है कि इस पुस्तक में उठाए गए विषयों पर विमर्श आगे बढ़े। इस पुस्तक को पढ़ने के बाद महसूस होता है कि किस तरह पत्रकारिता अपने मूल सरोकार से भटक गई है। चाटुकारिता संस्कृति के हावी होने के कारण मूल मुद्दे छूट चुके हैं।

लेखन शैली की बात की जाए तो अत्यंत सरल भाषा में लेखक ने अपनी बात रखी है। हालांकि तथ्यों का दोहराव खटकता है। बहरहाल, लेखक संजय कुमार की पुस्तक 'मीडिया : महिला, जाति और जुगाड़' बेशक मीडिया के स्याह पक्ष को लाने की कोशिश की है। इसमें मीडिया मालिक को कटघरे में खड़ा करने की कोशिश की गई है लेकिन पूरी पुस्तक से एक अवधारणा यह भी बनती है कि मीडिया में सब गलत हो रहा है। यहां पर कहीं न कहीं लेखक के बारे में एक पक्षीय धारणा भी बनती है। कुछ अध्याय ऐसे हैं जो किताब के शीर्षक से मेल नहीं खाते हैं, बावजूद इसके उनकी प्रासंगिकता कम नहीं होती है। कुल मिलाकर इस पुस्तक को सिर्फ पठनीय मानना भूल होगी क्योंकि यह विमर्श को बढ़ाती है। एक ऐसे विमर्श को जिसके केंद्र में वह है जो खुद को साज का आईना मानता है लेकिन खुद आईना देखने से परहेज करता है। ■

नील का दाग

उमाशंकर चौधरी
कवि-कथाकार

संपर्क : जे-08 महानदी एक्सटेंशन
इग्नू आवासीय परिसर,
इग्नू, मैदानगढ़ी,
नई दिल्ली-110068

पुस्तक : जब नील का दाग मिटा : चंपारण 1917
लेखक : पुष्यमित्र
प्रकाशक : राजकमल प्रकाशन, नई दिल्ली
पृष्ठ : 150
मूल्य : ₹ 150

नील की खेती का विद्रोह सिर्फ मनमाने तरीके से दबाव बनाकर करवाए गए खेती का विद्रोह नहीं था। यह स्वतंत्रता संग्राम का एक महत्वपूर्ण हिस्सा था। आज हमारे जीवन की उपयोगिता के लिए नील चाहे नगण्य सा महत्व रखता हो और इतिहास में घट चुकी इस घटना को समझना अब हमारे लिए भले ही बहुत मुश्किल हो परंतु हमें समझना होगा कि इतिहास में इसी नील के कारण ब्रिटिश हुकूमत से भारतीयों को एक लंबी लड़ाई लड़नी पड़ी थी। ए.आर. देसाई ने अपनी पुस्तक 'भारतीय राष्ट्रवाद की सामाजिक पृष्ठभूमि' में इस बात को बहुत तार्किक ढंग से दिखलाने की कोशिश की है कि ब्रिटिश हुकूमत का अत्याचार ज्यों-ज्यों समाज में बढता गया, भारत में राष्ट्रवाद भी उसी अनुपात में दृढ़ होता चला गया था। भारतीय किसान पर जबरन थोपी गई नील की खेती का विरोध उसी राष्ट्रवाद के उत्थान का एक महत्वपूर्ण हिस्सा है। पत्रकार पुष्यमित्र ने अपनी पुस्तक 'जब नील का दाग मिटा : चंपारण 1917' में नील की खेती और उसके साथ जुड़ी हुई ब्रिटिशों की जबरदस्ती को दिखलाने की कोशिश की है। इतिहास में किस तरह नील का यह विद्रोह सीधे-सीधे स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ गया था और भारत के लागों ने किस तरह इस विद्रोह पर विजय प्राप्त की थी, पुस्तक में बहुत ही बारीकी से इसकी पड़ताल की गई है। इतिहास की विभिन्न पुस्तकों में नील की खेती और उसके खिलाफ विद्रोह पर यहां-वहां टुकड़ों में तो लिखा हुआ मिल जाता है परंतु शायद यह पहली पुस्तक है जिसमें नील की खेती के पूरे इतिहास को मुकम्मल रूप से लिखा गया हो। पुष्यमित्र ने अपनी पुस्तक के 'आभार' में इस बात का जिक्र किया है कि चंपारण नील विद्रोह पर पर्याप्त सामग्री उपलब्ध है। गांधी ने अपनी आत्मकथा में भी इस विद्रोह को काफी स्थान दिया है। इस तरह विभिन्न डायरियों और विभिन्न सरकारी दस्तावेजों में भी इसका जिक्र है। पुष्यमित्र ने इन विभिन्न उपलब्ध सामग्रियों को एकत्रित करके बहुत रोचक रूप में इस किताब को तैयार किया है। इसलिए यह किताब इतिहास होकर भी इतिहास की लगती नहीं है। इस पुस्तक में किस्सागोई है और इतिहास को किस्से के रूप में परोसने का प्रयास किया गया है।

भारत के लोगों के लिए नील कोई नई बात नहीं थी। उन्होंने नील के पौधों को बहुत पहले ही पहचान लिया था और उसके परिशोधन से भी वे बहुत पहले ही वाकिफ हो गए थे परंतु ब्रिटिश भारत में आने के पहले तक नील के बारे में अनभिज्ञ थे। ब्रिटिशों को यहीं से नील के बारे में जानकारी मिली और नील की उपयोगिता ने उन्हें चौंका दिया। इस नीले रंग से रंगे कपड़े पुराने पड़ने पर भी खराब नहीं दिखते, नील की इस एक खासियत ने नील को ब्रिटिशों की निगाह में बहुत ही महत्वपूर्ण बना दिया और इस तरह भारतीय समाज का एक बड़ा वर्ग इस नील की खेती की चपेट में जबरन आ गया। पहले तो रफ-टफ कामों के लिए कपड़ों में नील का इस्तेमाल और फिर बाद के दिनों में इसी नील की लोकप्रियता ने डेनिम जींस को जन्म दिया। चूंकि नील कपड़ों को लंबे समय तक बासी नहीं होने देता था इसलिए इस रंग के इस्तेमाल ने कपड़ों के लिए एक नया फैशन उत्पन्न कर दिया और जिसकी आखिरी परिणति डेनिम जींस के रूप में हमारे सामने आया।

पश्चिमी देशों में लगातार बढ रही नील की लोकप्रियता के कारण विभिन्न देशों में इसकी पैदावार की कोशिश भी की गई परंतु सफलता हासिल नहीं हुई। बाद के दिनों में 1896 में जोहेन वेन बेयर ने जर्मनी में कृत्रिम नील को बना कर नई क्रांति कर दी। बेयर को इसी खोज के लिए 1905 में नोबेल पुरस्कार भी मिला। इस कृत्रिम नील ने भारत के किसानों को इस खेती से थोड़े समय के लिए निजाद भी दिलाई परंतु प्रथम विश्वयुद्ध के शुरू होते ही जर्मनी से इस कृत्रिम नील का आना फिर से बंद हो गया और फिर से भारतीय किसानों पर नील की खेती का दबाव बढने लगा। पुष्यमित्र ने इस किताब में ऐसी कई जानकारियां बहुत ही रोचक तरीके से प्रस्तुत की हैं। कृत्रिम नील ने प्राकृतिक नील को विस्थापित कर दिया था परंतु आगे चलकर जर्मनी सहित सारे पश्चिमी देशों ने उस रासायनिक रंग को फिर से प्राकृतिक रंग से विस्थापित किया।

जिस नील विद्रोह को हम इतिहास में जानते हैं उसे हम चंपारण के सत्याग्रह के रूप में भी जानते हैं लेकिन इस पुस्तक को पढने के बाद यह ज्ञात होता है कि जिस नील के विद्रोह को हम इतिहास में जानते हैं उससे पहले

बंगाल में नील का विद्रोह हो चुका था और इस विद्रोह में भारतीयों को सफलता भी मिली थी। बंगाल के पत्रकार हरीशचंद्र मुखोपाध्याय इस संदर्भ में अगुवा बने और उन्होंने इसे एक क्रांति का रूप भी दिया। 'नीलदर्पण' नामक नाटक उसी समय के एक पोस्टमास्टर दीनबंधु द्वारा लिखा गया जिसका अनुवाद बाद के दिनों में माइकल मधुसूदन दत्त ने बांग्ला से अंग्रेजी में किया और ब्रिटिशों को सोचने पर मजबूर कर दिया। बंगाल को नील की जबरन खेती से मुक्त कराने में सबसे बड़ा योगदान हरीशचंद्र मुखोपाध्याय का था। बाद के दिनों में जब चंपारण में नील विद्रोह शुरू हुआ तो उस पर विजय हासिल करने में काफी वक्त लगा। पुष्यमित्र ने अपनी पुस्तक में लिखा है 'खुद राजेंद्र प्रसाद ने अपनी पुस्तक 'सत्याग्रह इन चंपारण' में लिखा है कि यह चंपारण की बदकिस्मती थी कि उसे कोई हरीशचंद्र मुखोपाध्याय नहीं मिला।'

चंपारण की खुशकिस्मती यह थी कि उसे राजकुमार शुक्ल मिल गए। राजकुमार शुक्ल जिन्हें नील विद्रोह के संदर्भ में हम ना के बराबर ही जानते हैं। चंपारण का पूरा नील विद्रोह जिस व्यक्ति के कारण संपन्न हुआ, इतिहास में लगभग उस व्यक्ति को भुला दिया गया। पुष्यमित्र ने अपनी इस पुस्तक में राजकुमार शुक्ल की भूमिका को शिद्दत से याद किया है। वे इस पुस्तक में लिखते हैं 'जब हम चंपारण के विद्रोह की बात करते हैं, 1911 से 1926 के बीच चंपारण में हुए उथल-पुथल की बात करते हैं, गांधी को चंपारण लाने और उनके द्वारा जांच किए जाने की बात करते हैं और इस आंदोलन के आखिर में गठित जांच कमिटी के सामने एक किसान के रूप में बयान देने की बात करते हैं तो हमारे सामने एक ही व्यक्ति का चेहरा उभर कर आता है। वह चेहरा है राजकुमार शुक्ल का।'

बंगाल के इलाकों में नील की खेती का खात्मा इतिहास में उस तरह दर्ज नहीं हो पाया जिस तरह चंपारण का नील विद्रोह हुआ। इसका सबसे बड़ा कारण महात्मा गांधी थे। महात्मा गांधी के इस विद्रोह से जुड़ाव ने इसे एक बड़े विद्रोह के रूप में दर्ज तो करवाया ही लेकिन उससे भी बड़ा कारण यह था कि महात्मा गांधी ने इस विद्रोह को सिर्फ नील की खेती तक सीमित नहीं रख कर इसे आम आदमी की स्वतंत्रता पर हमले से जोड़ दिया और इस तरह यह नील की खेती महज जबरन करवाए जाने वाली नील की खेती नहीं रह कर भारत के आम लोगों की स्वाधीनता का सवाल बन गई। बंगाल के इलाकों का नील का विद्रोह सिर्फ नील का विद्रोह था परंतु महात्मा गांधी ने नील के इस सवाल को बड़ा बनाकर और इसे स्वाधीनता के सवाल से जोड़कर राष्ट्रवाद का मुद्दा बना दिया।

बंगाल के इलाकों में नील के विद्रोह में मिली सफलता ने नकारात्मक असर यह दिया कि वहां के सारे नील प्लांटर उत्तर बिहार की तरफ पसरने लगे। नील प्लांटर के यहां चंपारण के इलाके में पसरते ही सबसे बुरा असर यह रहा कि तीनकठिया प्रथा की शुरुआत हुई। तीनकठिया प्रथा में किसानों को एक बीघे में से सबसे उपजाऊ तीन कट्ठा जमीन पर नील की खेती करनी ही होती थी। इन तीन कट्ठे की खेती के लिए उन्हें अपना सबसे बहुमूल्य समय तथा अपनी सबसे उत्कृष्ट मेहनत देनी होती थी ताकि उस तीन कट्ठे में ब्रिटिश हुकूमत के लिए तैयार की जाने वाली नील की पैदावार में कोई कमी ना आ पाए और इस तरह हालात बन जाते थे कि नील की पैदावार तो लहलहा रहे होते और बाकी फसल बनिस्पत मर रही होती। पुष्यमित्र अपनी पुस्तक में लिखते हैं '26 अप्रैल को गांधी रामनवमी प्रसाद के साथ कुड़िया गांव गए। उस गांव की दशा ने गांधी को हिलाकर रख दिया। गांव में हर तरफ नील ही नील के पौधे नजर आ रहे थे जबकि कई लोगों के घरों में खाने के लिए मुट्ठी भर अनाज तक नहीं था।'

चंपारण के नील विद्रोह के संदर्भ में दो लोगों के योगदान को कभी भुलाया नहीं जा सकता। पहले तो निस्संदेह राजकुमार शुक्ल और दूसरे तब के युवा संपादक गणेश शंकर विद्यार्थी। इस इलाके में नील के खेती के अत्याचार से गणेश शंकर विद्यार्थी बहुत आहत थे और अपने अखबार 'प्रताप' में लगातार किसानों के दुख-दर्द को छाप रहे थे। इस अखबार ने इस विद्रोह को एक तार्किक आधार तो दिया परंतु इसे व्यावहारिक स्तर पर सफल बनाने में राजकुमार शुक्ल का महत्वपूर्ण योगदान रहा। गणेश शंकर विद्यार्थी ने राजकुमार शुक्ल की चिंता को देखते हुए उन्हें मोहनदास करमचंद गांधी के बारे में बतलाया। शुक्ल को विद्यार्थी ने इस बात के लिए आश्वस्त किया कि अगर गांधी ने इस समस्या पर ध्यान दे दिया और गांधी सहित कांग्रेस ने अगर इसे अपना एक बड़ा एजेंडा बना लिया तो इस समस्या का निदान संभव है। राजकुमार शुक्ल गांव के एक साधारण, भोले-भाले किसान थे, उन्होंने विद्यार्थी की कही हुई बातों

को गांठ बांध ली और अपने अथक प्रयास से कालांतर में इसे सफल भी बनाया और इस तरह से राजकुमार शुक्ल के प्रयास से गांधी चंपारण आए भी और चंपारण का यह विद्रोह इतिहास में अपनी विजय के कारण दर्ज भी हुआ।

पुष्यमित्र ने अपनी इस पुस्तक में राजकुमार शुक्ल की बेचैनी, बेबसी और प्रयास को बहुत ही शिद्दत से दिखलाने की कोशिश की है। राजकुमार शुक्ल महज एक किसान थे और उनकी कोई राजनीतिक महत्वाकांक्षा न होते हुए भी इस अत्याचार के खिलाफ उनके अंदर जो बेचैनी थी उसे इस किताब को पढकर महसूस किया जा सकता है। शुक्ल के सारे प्रयासों को यहां क्रमवार दिया गया है। शुक्ल के इन प्रयासों को बहुत हद तक विभिन्न दस्तावेजों से प्रमाणित भी किया गया है। गांधी ने भी अपनी आत्मकथा में राजकुमार शुक्ल के अथक प्रयास का जिक्र किया है। शुक्ल ने गांधी का नाम तक नहीं सुना था लेकिन सिर्फ इतना जान भर लेने से कि गांधी नामक व्यक्ति के आ जाने से इस समस्या का निदान निकल सकता है उन्होंने इसके लिए जमीन-आसमान एक कर दिया। गांधी ने अपनी आत्मकथा 'सत्य के प्रयोग' में लिखा है 'राजकुमार शुक्ल नामक चंपारण के एक किसान थे। उन पर दुख पड़ा था। यह दुख उन्हें अखरता था। अपने इस दुख के कारण उनमें नील के इस दाग को सबके लिए धो डालने की तीव्र लगन पैदा हो गई थी।' शुक्ल अंग्रेजी बोलना नहीं जानते थे और अपनी बात को गांधी को प्रभावकारी तरीके से कैसे कह पाएंगे इसका अंतर्द्वंद्व पुस्तक में देखने लायक है। गांधी ने शुरू में कई बार इसे गंभीर रूप से नहीं लेते हुए टालने की कोशिश की और हर बार शुक्ल उनका पीछा करते रहे। लखनऊ, कलकत्ता जहां-जहां गांधी गए वहां-वहां शुक्ल उनके पीछे-पीछे गए और इस तरह अंत तक इस सफलता को शुक्ल ने हासिल कर ही लिया। गांधी चंपारण आए और यह विद्रोह एक राष्ट्रीय विद्रोह बन गया।

चंपारण की खुशकिस्मती यह थी कि उसे राजकुमार शुक्ल मिल गए। राजकुमार शुक्ल जिन्हें नील विद्रोह के संदर्भ में हम ना के बराबर ही जानते हैं। चंपारण का पूरा नील विद्रोह जिस व्यक्ति के कारण संपन्न हुआ, इतिहास में लगभग उस व्यक्ति को भुला दिया गया। पुष्यमित्र ने अपनी इस पुस्तक में राजकुमार शुक्ल की भूमिका को शिद्दत से याद किया है। वे इस पुस्तक में लिखते हैं 'जब हम चंपारण के विद्रोह की बात करते हैं, 1911 से 1926 के बीच चंपारण में हुए उथल-पुथल की बात करते हैं, गांधी को चंपारण लाने और उनके द्वारा जांच किए जाने की बात करते हैं और इस आंदोलन के आखिर में गठित जांच कमिटी के सामने एक किसान के रूप में बयान देने की बात करते हैं तो हमारे सामने एक ही व्यक्ति का चेहरा उभरकर आता है।

जब जहां जिस तरह की जरूरत हुई राजकुमार शुक्ल ने वैसा प्रयास किया। शुक्ल का बस एक ही लक्ष्य था गांधी को चंपारण लाना और वहां की वस्तुस्थिति से उन्हें अवगत करवाना। जब गांधी चंपारण आए तब यह पूरा मामला गांधी ने अपने हाथ में ले लिया। या यूं कहें कि यह पूरा वाकया गांधी के इर्द-गिर्द घूमने लगा। राजकुमार शुक्ल का प्रयास भी यही था और दिली इच्छा भी क्योंकि शुक्ल को मालूम था कि उस समय गांधी ही सिर्फ एक ऐसे नेता थे जिनके प्रयास और जिनके सवाल को ब्रिटिश अनसुना नहीं कर सकते थे। परंतु मनोविश्लेषणात्मक ढंग से सोचें तो एक मनुष्य की दृष्टि से कितनी बड़ी बात है कि सारे प्रयासों की जड़ में राजकुमार शुक्ल के होने के बावजूद उन्होंने कभी भी अगुआ के रूप में अपना चेहरा नहीं चाहा। सही मायने में देखा जाए तो चंपारण में जब से नील विद्रोह शुरू हुआ तब से राजकुमार शुक्ल गायब ही हो गए। इतिहास में यह विद्रोह गांधी के सत्याग्रह के लिए याद किया गया और जो बहुत हद तक जायज भी था।

वैसे तो पुष्यमित्र ने यह पुस्तक चंपारण के नील विद्रोह के इतिहास को बतलाने के लिए लिखी है परंतु इस पुस्तक में राजकुमार शुक्ल का जो चरित्र उभर कर सामने आता है वह अविस्मरणीय है और इस तरह यह पुस्तक इतिहास होते हुए भी इतिहास की परिसीमा से बाहर निकल कर साहित्य का रूप ले लेती है। इस विद्रोह के लिए राजकुमार शुक्ल के चेहरे पर जो बेबसी और बेचैनी है वह मानवता के उत्कृष्टतम रूप को दिखलाती है। लेकिन इसे विडंबना ही कहिए कि जिस गांधी को चंपारण लाने के लिए दो वर्ष तक राजकुमार शुक्ल दिन-रात एक करते रहे उसी चंपारण की धरती पर जब गांधी पहली बार आए तो राजकुमार शुक्ल को इसकी खबर तक नहीं थी।

इस पूरी पुस्तक में इस बात को बहुत खोल कर तो नहीं रखा गया है परंतु इसकी झलक बार-बार मिलती है कि आम आदमी के प्रयास से एक इतना बड़ा आंदोलन इतिहास में संपन्न हो तो गया परंतु यह आंदोलन तब तक आंदोलन का रूप नहीं ले पाया जब तक कि कांग्रेस को यह एक इतना बड़ा मुद्दा महसूस नहीं हो गया जो उसकी अपनी योजना में फिट बैठ सके और जिस दिन गांधी सहित कांग्रेस को यह मुद्दा एक राष्ट्रीय स्तर का मुद्दा महसूस हुआ उसी दिन से उसे हाइजैक कर लिया गया। राष्ट्रीय स्तर पर यह बात बहुत उचित लग सकती है और शायद है भी परंतु मानवीय स्तर पर देखें तो ऐसा लगता है जैसे गांधी सहित कांग्रेस ने इस पूरे विद्रोह का राजनीतिकरण किया।

नील की खेती के संदर्भ में कुछ बातें इस पुस्तक में अनसुलझी रह गई हैं। चूंकि यह पुस्तक नील की खेती की समस्या से लेकर नील विद्रोह की सफलता की कहानी कहती है

इसलिए यह अपेक्षा इस पुस्तक से अवश्य की जानी चाहिए कि इस संदर्भ की सारी उलझनें इस पुस्तक से दूर हो जाएं। यह समझ में अभी भी नहीं आता है कि आखिर ब्रिटेन सहित पश्चिम के अन्य देशों को इतनी मात्रा में नील की आवश्यकता क्यों पड़ रही थी। इतिहास में इस मांग को दिखलाया गया है तो मांग तो अवश्य रही होगी परंतु क्यों और किसलिए, पुस्तक को और गहराई से इस पर प्रकाश डालना चाहिए था। अगर नील की इतनी ही जरूरत थी तो आखिर दूसरे देशों में इतनी मात्र में नील को क्यों नहीं उगाया जा सका और उसका परिशोधन यहां से क्यों नहीं सीखा जा सका, एक सवाल यह भी है। तीसरा सबसे महत्वपूर्ण सवाल यह है कि आखिर भारत के लोगों को नील की खेती से इतनी परेशानी क्यों थी। अगर परेशानी सिर्फ इसलिए थी कि यह उनके साथ जबरन था तो यह एक बनिस्पत छोटा कारण था क्योंकि जबरन तो उस समय बहुत कुछ था। उनसे जो लगान वसूला जाता था, उससे ज्यादा अत्याचार भरा कदम भला और क्या हो सकता था। यह एक किंवदंती है कि जिस खेत में नील की खेती एक बार हो जाती थी वह खेत लंबे समय के लिए बंजर हो जाता था इसलिए सारे किसान नील की खेती से बचना चाहते थे। इस किंवदंती में कितनी सच्चाई है इस पुस्तक में इस पर विचार किया जाना चाहिए था क्योंकि नील की खेती के इतना तीव्र विरोध का सिर्फ यह तर्क कि यह उनके साथ जबरदस्ती थी, इस बड़े विद्रोह के सामने छोटा महसूस होता है। अगर जमीन के बंजर होने वाली बात में सच्चाई है तब तो किसानों की बेबसी को समझा जा सकता है। समाज में व्याप्त किंवदंतियों का भी अपना एक सामाजिक आधार होता है इसलिए इस पुस्तक को इन किंवदंतियों से भी जूझना चाहिए था।

पत्रकार पुष्यमित्र ने अपनी पुस्तक 'जब नील का दाग मिटा : चंपारण 1917' में नील की खेती और उसके साथ जुड़ी हुई ब्रिटिशों की जबरदस्ती को दिखलाने की कोशिश की है। इतिहास में किस तरह नील का यह विद्रोह सीधे-सीधे स्वतंत्रता संग्राम से जुड़ गया था और भारत के लागों ने किस तरह इस विद्रोह पर विजय प्राप्त की थी, पुस्तक में बहुत ही बारीकी से इसकी पड़ताल की गई है।

यह पुस्तक नील की खेती से लेकर नील के विद्रोह तक में हमारे सामने कई अनछुए पहलुओं को खोल कर रखती है इसलिए इस विषय पर एक उत्कृष्ट पुस्तक है। लेकिन अगर यह पुस्तक इन उलझावों पर बात करते हुए आगे बढती तो शायद और मुकम्मल हो पाती। हां, इस पुस्तक की भाषा बहुत अच्छी है इसलिए इसे इतिहास की तरह तो पढा ही जाएगा लेकिन इसे एक कथेतर गद्य की पुस्तक की तरह भी पढा जा सकता है। ■

शब्दों की रंगवीथि

ऋषिकेश राय
साहित्यकार

संपर्क : उप निदेशक (रा.भा.)
टी. बोर्ड, 14, ब्रेबोर्न रोड,
कोलकाता (प.बं.)

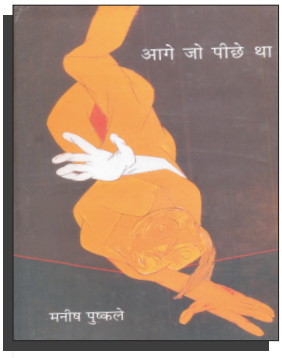

पुस्तक : आगे जो पीछे था
लेखिका : मनीष पुष्कले
प्रकाशक : भारतीय ज्ञानपीठ
नई दिल्ली
पृष्ठ : 112
मूल्य : ₹ 200

'आगे जो पीछे था' चित्रकार-कथाकार मनीष पुष्कले द्वारा उच्च अध्ययन केंद्र नांत, फ्रांस में चित्रकला के लिए प्राप्त अध्येतावृत्ति के दौरान लिखा गया उपन्यास है। इसमें वहां की उच्छल प्रकृति और उर्वर एकाकीपन का भी अंश शामिल है। लेखक ने इस कृति को रंग शिखर पर शब्द पुष्पों के मंजरित होने के रूप में परिभाषित किया है। यह उपन्यास एक आत्मसजग भाव यात्रा है जो अपने अस्तित्व को अपने से विलग कर उसका साक्षात करती है। यहां खुद को देखने परखने में संपूर्ण ममेतर को भी जांचने की स्पृहा सम्मिलित हो जाती है। अपने साथ परिवेश और उसके होने को देखना, परखना और अनुभव से अनुभूति की यात्रा जीवनगत व्याकरण की शक्ल अख्तियार कर लेती है। यह उपन्यास एक चित्रकार की यात्रा का अस्तित्व के सघनतम बिंदु पर अनुभूत सत्य का वृत्तांत है, जिसमें संस्कृति, संस्कार, इतिहास और स्मृति की निर्जनता से जीवन के खुले और विस्तीर्ण पथ पर अनुगमन की कथा अति संवेदनशील एवं धड़कती जीवंतता के शब्दचित्रों में वर्णित है। इस यात्रा में चित्रकार प्रारब्ध कुमार के शब्दों में, एक तटस्थ दृष्टि हमेशा सक्रिय है, जो अपने अंतर्जगत के आलोड़नों के साथ-साथ अपने चतुर्दिक फैले वस्तुजगत को विस्मय और कौतुकी भाव से देखती है।

निर्दोष और पारदर्शी मन से प्रारब्ध कुमार अपने अस्तित्व और उसे आवृत्त करने वाले पर्यावरण से अंतःक्रिया करते हैं। अज्ञात स्मृतियों वाली पुश्तैनी हवेली से निकलकर तमाम रूप, रस, गंध और स्पर्श जैसी ऐंद्रिक संवेदनाओं और संस्पर्शों के माध्यम से जीवन की प्रामाणिकता को टटोलते हैं। यहां काल की रैखिकता नहीं बल्कि चक्राकार गति का स्पंदन है जिसमें भूत, वर्तमान और भविष्य की संचेतना एकमेक हो जाती है। यह कृति पाठक से भी इसी भावाकुल कालबोध की मांग करती है, जिससे उसका मूल निहितार्थ उसे प्राप्त हो सके। आदि, मध्य और अंत वाली सूचनात्मक आख्यान की त्वरा इस कृति में नहीं है। इसमें पाठकों के हाथ लगती हैं, कुछ अस्फुट शब्द, कुछ आकृतियां और परछाइयों के बीच बिखरी धूल और कुछ रंग। यह उपन्यास एक चित्रकार की रंग चेतना का शाब्दिक अंतरण है। वह एक चितेरे की तरह कभी शब्दों को, पदार्थों को उनके शब्दनाम से जोड़ता है तो कभी उनसे हटाकर दूसरे शब्द के बगल में रखकर देखता है। इस प्रक्रिया का मूल तत्व है - परिवर्तन जहां शब्द, रंग, आकार, रेखाएं और परंपरा का स्मृत अंश सबकुछ अपना आकार बदल रहे हैं। यहां काल रैखिकता में परिभाषित नहीं होता बल्कि कायांतरण की नैसर्गिकता ही उसके आरोह-अवरोह को चिन्हित करती है। इस प्रक्रिया में अस्तित्व समस्त चराचर से संबद्ध हो जाता है। जीवन-जगत में पदार्थों के बीच का प्राकृतिक रसायन ही इस दर्शन का प्राण तत्व है। इस उपन्यास में नश्वर जगत के प्रश्नांकनों से इतर एक अमूर्त सत्य की तलाश है जो आधुनिक जीवन का आध्यात्म है। इसमें योगियों और फकीरों की निस्संग रख दशा की भी झलक मिलती है। यहां अभाव, शोषण और असमानता से परे व्यक्ति के चरम सत्यों और अस्तित्वगत नश्वर प्रश्नाकुलता है जो अमूर्तता का स्पर्श करती है। यह उपन्यास शब्दों का अतिरिक्त शोर अथवा जीवन के प्रति उत्कट मोह का प्रदर्शन भी नहीं करता। इसमें अति परिष्करण के बदले एक सुगम, सहज और शब्दों की मौलिक प्रामाणिक यात्रा का आग्रह है। इसमें एक विलुप्त होते संसार और उसकी जिजीविषा को संरक्षित कर लेने की जिद का भी आभास मिलता है। यह उपन्यास काल के असीम प्रवाह में की गई एक यात्रा के समान है, जिसका न कोई आदि है न अंत। उपन्यास के विषय से ही स्पष्ट है कि इसकी भाषा विशिष्ट, अनुभूतिपरक एवं व्यंजक होगी। अनुभूतियों को शाब्दिक रूप में अंतरित करना हर रचनाकार के लिए एक चुनौती होती है। कितना भी समर्थ और सजग रचनाकार ही क्यों न हो शब्दांतरित होने के क्रम में अनुभूति का कुछ अंश वाष्पीकृत हो ही जाता है। मनीष एक वर्णसंवेदी चित्रकार हैं उनका यह रूप उनकी भाषा की रंग सजगता और आख्यानों को चित्र रूप में नियोजित करने के क्रम में स्पष्ट है। एक चित्रकार के रूप में वे शब्द और उससे चित्रित रूपाकारों के नाभि प्रदेश तक पहुंचते हैं, जिसमें उसका मूलाधार छिपा है।

उपन्यास का आरंभ चित्रकार प्रारब्ध कुमार की उस यात्रा से होता है, जिसमें वे अपनी हवेली यानी शीशमहल को छोड़कर सड़क पर एक अनजान गंतव्य के लिए निकल पड़ते हैं। यह यात्रा अपनी स्मृतियों से निकलकर एक नए भावालोक की यात्रा है। इसमें अपनी टीस से बाहर निकलने की आतुरता छिपी है। एक अज्ञात लोक से वे दूसरे अज्ञात लोक की यात्रा करना

चाहते थे। अपनी पुरानी अटैची और उसमें चित्रकारी का सामान लिए वे निकल पड़े। अवसाद भी उनके साथ चल रहा था। वर्षों से वे इस शीशमहल में थे बाहरी दुनिया से एकदम कटे हुए। रास्ते में उनकी भेंट एक लड़की रात्रि से होती है। उसके संसर्ग से प्रारब्ध कुमार के व्यक्तित्व में अंतःस्थ चेतन का आविर्भाव होता है। चेतन रात्रि के साथ चले जाते हैं, जबकि प्रारब्ध कुमार भी नए व्यक्ति के रूप में रात्रि के साथ शीशमहल में लौटते हैं, वहां के अंधकार को दूर करने के लिए। लोहा ही लोहे को काटता है।

उपन्यास में कथानक के स्थान पर घटनात्मक चेतना प्रवाह है। इसी में दोनों चरित्रों की विशिष्टता उद्घाटित होती है। अधिकतर स्थितियां मनश्चेतनात्मक होने के कारण आत्मालापी हैं। अस्तित्ववादी दर्शन का भी प्रभाव द्रष्टव्य है। उपन्यास का सबसे पठनीय अंश वह है जब पूर्वजों की संस्कृति, विवेक और प्रज्ञा के विदेशी औपनिवेशिकों द्वारा अधीनीकरण की चर्चा है। अपनी परंपरा और भाषा की सांस्कृतिक और भावात्मक भूमिका के महत्व को इसमें बखूबी रेखांकित किया गया है।

इस उपन्यास की विशिष्टता है इसका भावाभिव्यंजक, तरल एवं स्वप्नदर्शी गद्य जो विनोद कुमार शुक्ल और निर्मल वर्मा की परंपरा में है। उपन्यास कई दृश्याख्यानों में विभक्त है, जो चित्रशाला में सजे चित्रों की तरह प्रतीत होते हैं। आम उपन्यासों की संरचना से अलग सूक्ष्म अंतर्छवियों और विशिष्ट मनोदशाओं की अभिव्यक्ति से पूरित यह कृति कुछ अलग पढ़ने की इच्छा रखने वाले पाठकों को निश्चित पसंद आएगी। भाषिक अभिव्यक्ति की नई संभाव्यताओं को तलाशता है यह उपन्यास। ■

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के स्वामी सहजानंद सवरस्वती संग्रहालय में संरक्षित दुर्लभ पत्र।

कितनी तस्वीरें

■ **अवंतिका शुक्ला**
साहित्यकार

संपर्क : सहायक प्रोफेसर
स्त्री अध्ययन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

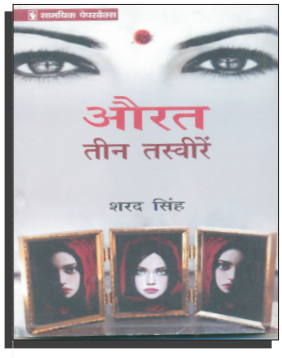

पुस्तक : औरत तीन तस्वीरें
लेखिका : शरद सिंह
प्रकाशक : सामयिक प्रकाशन, नई दिल्ली
पृष्ठ : 256
मूल्य : ₹ 200

हिंदी में महिला मुद्दों पर लेखन का वितान धीरे-धीरे काफी बढ़ता जा रहा है। इसकी वृद्धि में महिला लेखिकाओं की बहुत ही सराहनीय भूमिका है। हिंदी में लेखन कार्य करने वाली तमाम लेखिकाओं पर आरोप लगता रहा है कि उन्होंने स्त्री जीवन की जटिलताओं को सिर्फ मध्यवर्गीय महिलाओं या यौनिकता के मुद्दों तक ही सीमित रखा है और उसे अपने लेखन का मुद्दा बनाया है। लेकिन धीरे-धीरे इस विमर्श को विस्तार देते हुए इससे इतर मुद्दों को भी कहानी, उपन्यास, कविताओं और आलेखों के माध्यम से सामने लाया गया है, जिससे स्त्री जीवन के विभिन्न आयाम समाज के सामने प्रकट हो सके। इससे हिंदी में स्त्री जीवन पर होने वाले शोध पर भी बहुत सकारात्मक प्रभाव पड़ा है। लेखन की इसी श्रृंखला में शरद सिंह की पुस्तक 'औरत तीन तस्वीरें' आई है।

इस पुस्तक की सबसे खास बात यह है कि लगभग 54 आलेखों के माध्यम से यह स्त्री जीवन के ढेरों ऐसे महत्वपूर्ण क्षेत्रों को सामने लाती है, जिस पर बहुत विस्तृत शोध कार्य की संभावनाएं हैं और शोध की दृष्टि से यह क्षेत्र बहुत उपयोगी और एक नवीन ज्ञान को हमारे समक्ष प्रस्तुत करने वाले होंगे। इस पुस्तक के आलेखों को तीन हिस्सों में बांटा गया है। यह हिस्से बकौल शरद सिंह औरत की तीन तस्वीरों या कहें कि तीन स्वरूपों, स्त्री जीवन की तीन वास्तविकताओं को हमारे सामने लाने का काम करती है। पहले हिस्से में उन महिलाओं पर बात की गई है, जो कि किसी भी स्त्री के लिए प्रेरणा स्रोत बन सकती हैं। इन्होंने अपनी शिक्षा, राजनीति, आंदोलनों आदि में सक्रिय सहभागिता करके अपना मुकाम हासिल किया है। इन स्त्रियों ने कई परंपराओं को तोड़ा भी है। ये स्त्रीवाद की सक्रिय कार्यकर्ता कही जा सकती है। इन स्त्रियों के लिए शरद सिंह कहती हैं कि "पहली तस्वीर उन औरतों की है, जो अपने साहस, अपनी क्षमता और अपनी योग्यता को साबित करके पुरुषों की बराबरी करती हुई प्रथम पंक्ति में आ गईं हैं या प्रथम पंक्ति के करीब हैं।" चाहें भारत हो या इस्लामिक देश, औरतें अपने अधिकार के लिए डटी हुई हैं। वे चुनाव लड़ रही हैं, कानून सीख रही हैं, आत्मरक्षा के गुर सीख रही हैं और आम लोगों के लिए आइकॉन बन रही हैं।

दूसरे हिस्से में उन स्त्रियों को प्रस्तुत किया गया है, जिन्हें स्त्रियोचितता के खांचे में रखा गया। एक सीमित संरचना के भीतर उन्होंने अपना जीवनयापन किया। वे परंपरावादी ढांचे के भीतर रहीं, लेकिन उस ढांचे के भीतर भी उन्होंने अपनी एक सत्ता विकसित की, अपना सम्मान स्थापित किया। कोमलता के साथ सशक्तता भी उनकी आभूषण बनी। उनकी शक्ति को उभारने में जहां उनकी अंतःप्रेरणा ने भूमिका निभाई, वहीं तमाम पुरुषों की भी महत्वपूर्ण भूमिका रही, जिन्होंने अपने लेखन और जागरूकता अभियान के माध्यम से स्त्रियों के मुद्दों को केंद्र में लाने का प्रयास किया और स्त्री को स्वयं के बारे में देखने की एक नई और मजबूत दृष्टि दी।

शरद सिंह कहती हैं कि ये औरतें संपूर्ण स्त्री के सांचे में ढली हुई हैं। इनमें स्त्रियोचित लावण्य है, ये अपने जीवन को ढंग से जी सकती हैं, इनका अपने शरीर और मानस पर अधिकार है और ये पुरुष की सहचरी और पूरक के रूप में सामने आती हैं। 'अबला जीवन' की कहानी सिक्के का एक पहलू है, दूसरा पहलू समाज में औरतों की उस सम्मानजनक स्थिति का है, जिसकी रूपरेखा साहित्यकारों, चिंतकों एवं विचारकों ने तैयार की।

स्त्री के इस स्वरूप का विश्लेषण करना आवश्यक होगा कि इस सम्मानजनक स्थिति और मानस पर अपने अधिकार से वह किस हद तक पितृसत्ता का प्रतिरोध कर पाई। क्या ऐसी स्थिति भी उत्पन्न हुई जिसमें उसके प्रतिरोध को पितृसत्ता द्वारा आत्मसात कर लिया गया? या फिर स्त्री शक्ति किसी स्तर पर जाकर पितृसत्ता की मजबूतीकरण में खुद एक एजेंट की भूमिका निभाने लगी।

तीसरे हिस्से में उन महिलाओं के जीवन को प्रस्तुत किया गया है, जिसमें औरतें लगातार घुटन भरे वातावरण में विभिन्न प्रकार की प्रताड़नाओं को सहने के लिए विवश हैं। उनके पास अधिकार हैं, लेकिन उस चेतना का अभाव है, जो उस अधिकार का उपयोग करने की ताकत देती है। भीतर एहसास-ए-कमतरी बैठी हुई है, जो किसी भी सूरत में अपने प्रति होने वाले अन्याय के खिलाफ खड़े नहीं होने दे रही है। स्त्री के तीसरे

स्वरूप को व्याख्यायित करते हुए शरद सिंह कहती हैं।

वे निर्भया होना चाहती हैं, लेकिन हैं नहीं, उन्हें सभी प्रकार के वैधानिक अधिकारों से लैस कर दिया गया है, लेकिन वे स्वयं अज्ञानी हैं, अपने अधिकारों से बेखबर। वस्तुतः यदि स्त्रियां सामाजिक प्रताड़ना की शिकार हैं तो उसका सबसे बड़ा कारण उनकी अपनी हिचक भी है। एक ऐसी हिचक जिसमें वे यह सोच कर रह जाती हैं कि 'भला मैं क्या कर सकती हूं?'

इस प्रकार तीन प्रकार की स्त्रियों या कहें कि तीन हालातों में रह रही स्त्रियों के जीवन, जीवन की जटिलताओं, उनके संघर्षों, उनके अनुभवों को इस पुस्तक का आधार बनाया गया है। इन तीन हालातों के भीतर अलग-अलग दिशाओं की स्त्रियों, उनकी अलग-अलग जीवन परिस्थितियों को चर्चा के केंद्र में लाया गया है। इस पुस्तक में सिर्फ छत्तीसगढ़, मणिपुर, नागालैंड या कहें कि भारतीय ही नहीं हैं, बल्कि विश्व के भिन्न-भिन्न भौगोलिक क्षेत्रों जैसे फ्रांस, कनाडा, अरब, सूडान, लीबिया, नेपाल, पाकिस्तान, अफगानिस्तान, भूटान, आदि की स्त्रियों के मुद्दों को शामिल करके स्त्री मुद्दों के प्रति एक विस्तृत सोच बनाने की कोशिश की गई है। इस पुस्तक के माध्यम से खासतौर पर दक्षिण एशिया की महिलाओं के मुद्दे एक साथ जोड़ कर देखने में काफी सुविधा मिलती है। पाठक इस बात को महसूस कर सकता है कि विश्व की तमाम महिलाओं की जीवन अलग-अलग हैं, उन पर क्षेत्रीय, वर्गीय, नस्लीय, जातीय तमाम तरह की विभिन्नताओं के प्रभाव रहते हैं, जिससे उनके उत्पीड़न में भी बहुत भिन्नताएं दिखाई देती हैं, फिर भी इन सभी भिन्नताओं के बावजूद उनके शोषण में बहुत समानता है। उनके कष्ट कई बार देश की सीमाओं को पार कर जाते हैं और अलग-अलग देशों की स्त्रियों को उनकी अपनी पीड़ा होने का एहसास कराते हैं। इसलिए दुनियाभर की स्त्रियों को अपनी और एक दूसरे की मुक्ति के लिए संघर्ष हेतु एक साथ आना ही होगा।

शरद सिंह कहती हैं कि ये औरतें संपूर्ण स्त्री के सांचे में ढली हुई हैं। इनमें स्त्रियोचित लावण्य है, ये अपने जीवन को ढंग से जी सकती हैं, इनका अपने शरीर और मानस पर अधिकार है और ये पुरुष की सहचरी और पूरक के रूप में सामने आती हैं। 'अबला जीवन' की कहानी सिक्के का एक पहलू है, दूसरा पहलू समाज में औरतों की उस सम्मानजनक स्थिति का है, जिसकी रूपरेखा साहित्यकारों, चिंतकों एवं विचारकों ने तैयार की।

औरत की पहली तस्वीर, जिसमें संघर्षरत स्त्रियों को शामिल किया गया है, उसमें भारत के मणिपुर की इरोम शर्मिला, पाकिस्तान की फातिमा भुट्टो, तुर्की की गुलसिरीन, यमन की तवक्कुल कारमान, स्वात घाटी की साईमा अनवर, दक्षिणी सूडान की अगिएर नूनू कुम्बा, नेपाल की अनुराधा कोईराला आदि ढेरों महिलाओं की कहानियों के माध्यम से महिलाओं के दोयम दर्जे की स्थिति के बदलाव की रणनीतियों को बताया है, इरोम शर्मिला मणिपुर की एक ऐसी महिला थीं, जिन्होंने 16 वर्ष भूख हड़ताल करके मणिपुर में आफ्स्पा और सैन्यीकरण का विरोध किया। उन्हें आत्महत्या के प्रयास के आरोप में लगातार कैद में रखा गया। शर्मिला का लगातार कहना था कि ''मुझे अपने जीवन से प्यार है। मैं अपनी जान नहीं देना चाहती।'' ''अगर आत्महत्या करना चाहती तो शायद अब तक मर गई होती। मेरा प्रदर्शन अहिंसक रहा है और मुझे सिर्फ इंसानों की तरह जीना है।'' इरोम ने स्पष्ट किया कि वह मणिपुर की जनता की आफ्स्पा से मुक्ति और अपनी जनता के नागरिक अधिकारों की रक्षा के लिए संघर्ष कर रही है। 'गुलसिरीन का सपना' आलेख में तुर्की का इतिहास और उसके एक धर्मनिरपेक्ष देश बनने की यात्रा को दर्शाया गया है। इसमें महिलाओं के अधिकारों को लेकर आगे आने वाली सी.एच.पी. पार्टी की गुलसिरीन और कीमाल किलिक्डारीग्लू के प्रयासों को भी स्थान दिया गया है। कीमाल किलिक्डारीग्लू कहती हैं कि ''हम विश्वास करते हैं कि औरतों को दिए गए अधिकार औरतों की समस्या को तो हल करेंगे ही, साथ ही पुरुषों की समस्याओं को भी हल करेंगे।'' टर्किश वूमेंस एसोसिएशन की सदस्य के रूप में भी ये महिलाएं, हिंसा, राजनैतिक सहभागिता, व्यावसायिक मजबूती आदि के लिए प्रयासरत हैं।

शांति के लिए नोबल पुरस्कार विजेता तवक्कुल करमान पर भी 'क्रांति की मां तवक्कुल करमान' नाम से आलेख है। इस आलेख में यमन के सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक हालातों पर बात की गई है। यह देश कुपोषण, बेरोजगारी, बिजली जैसी आधारभूत समस्या से जूझ रहा है। जहां तक स्त्रियों की बात है, इस देश में स्त्री शिक्षा, स्वास्थ्य के प्रति जागरूकता न्यूनतम है, साथ ही देश में व्याप्त कट्टरपंथी वातावरण में महिलाओं को अपने जीवन के फैसले लेने का भी अधिकार नहीं है। उदार विचारों वाली तवक्कुल यमन के तानाशाह के खिलाफ क्रांति और परिवर्तन की राह चुनकर आगे बढती रहीं। वे यमन में महिला, पुरुष दोनों के लिए लोकतांत्रिक व उदार वातावरण के लिए प्रतिबद्ध है।

इसी प्रकार अन्य लेखों जैसे कि 'स्वात घाटी की साईमा अनवर', 'अनुराधा कोईराला से कमला रोका तक', 'एक थी चंपा' आदि आलेखों में महिलाओं के अपनी और समाज की मुक्ति के प्रयासों को उस देश की सांस्कृतिक, आर्थिक, सामाजिक, ऐतिहासिक सांस्कृतिक स्थितियों के निर्माण के साथ जोड़कर प्रस्तुत किया गया है। विभिन्न देशों में

महिलाओं के सामूहिक प्रयासों जिन्होंने आंदोलन का रूप भी लिया, पर भी कई आलेख लिखे गए हैं। 'अपनी नियति बदलने की दिशा में नेपाली औरतें' में राजनैतिक अस्थिरता से जूझ रहे देश में महिलाओं के व्यापार पर बात करते हुए साफा ऑटो रिक्शा परिवहन की बात की गई है। यह नेपाल का सबसे लोकप्रिय परिवहन साधन है, जिसे 400 से अधिक महिला चालक चलाती हैं। जहां वे इस रोजगार के माध्यम से अपना घर चलाती हैं, वहीं वे खुद को इस पुरुष प्रधान रोजगार के साधन में स्थापित भी कर रहीं हैं। 'भूटानी स्त्री और करवट लेता समाज', 'दक्षिणी सूडान की स्वतंत्रता और स्त्री शक्ति', 'गद्दाफी के देश में औरतें', 'नशीली दवाओं के विरुद्ध अरब की औरतें' जैसे तमाम आलेख शामिल किए गए हैं, जिनमें महिलाएं अपने देश के अस्थिर हालातों का सामना करते हुए अपनी आवाज बुलंद करने की कोशिश में हैं। वे सभी अपने देशों में महिला आंदोलन के माध्यम से अपने देश और स्वयं के मुद्दों के प्रति लगातार सक्रिय हैं।

इस खंड में एक और महत्वपूर्ण आलेख 'जमीला, सारा, दारा और सरकोजी' में फ्रांस के बुर्का डिवेट को भी चर्चा में लाया गया है। निकोलस सरकोजी ने फ्रांस में सार्वजनिक स्थानों पर बुर्का पहनने पर प्रतिबंध को कानून के भीतर लाया। इस कानून पर दुनिया भर के विद्वानों के बीच काफी बहस हुई। सांस्कृतिक बहुलतावाद एक बड़े विमर्श के दायरे में लाया गया। नई चुनौतियां इस कानून के सामने हैं। इस आलेख में बुर्के से मुस्लिम स्त्री की आजादी पर प्रभाव और फ्रांस में धर्मनिरपेक्षता के सवालों के साथ मुस्लिम महिलाओं के बुर्का धारण करने के पीछे बसी सामाजीकरण की प्रक्रिया को भी सामने लाया गया है। सामाजीकरण की इस प्रक्रिया में खेलने वाली गुड़ियों की भूमिका पर लेखिका ने महत्वपूर्ण टिप्पणी की है। लेखिका कहती हैं, ''कुछ इस्लामिक देशों में नन्हीं मुन्नी बच्चियां जिन गुड़ियों से खेलती हैं, वे गुड़ियां बुर्कों के साथ गढी जाती हैं। गुड्डे-गुड़ियों का खेल सामाजिक संस्कार देता है और बुर्के वाली गुड़ियों के साथ खेलने वाली नन्ही बालिकाओं को बुर्का पहनने के संस्कार गुड़ियों के द्वारा उनकी अबोध अवस्था में ही उनके मानस में डाल दिए जाते हैं।''

2002 में चीन में सारा और दारा नाम की गुड़िया बनाई, जिसमें बार्बी डॉल की तरह छोटे फ्रॉक या गाउन नहीं पहनाए गए थे, बल्कि ईरानी सलवार, घुटनों से लंबा घेरदार कुर्ता, बास्केट, सिर पर रूमाल और उस पर चादर डाली गई थी। 2003 में बार्बी डॉल बनाने वाली कंपनी ने 'फुल्ला' बनाई, जिसे 'अबाया' और सिर पर रूमाल पहनाया। सिम्बा टॉय ने 2006 में मध्य एशिया के बाजार में जमीला गुड़िया उतारी। ये सारी गुड़ियां मुस्लिम बच्चियों में बहुत लोकप्रिय हुईं। इन्हीं का हवाला देते हुए लेखिका ने यह सवाल भी उठाया है कि यह कानून उन मुस्लिम लड़कियों को स्वीकार करना बहुत ही कठिन होगा क्योंकि उनका सामाजीकरण इन्हीं गुड़ियों के माध्यम से हुआ है और उन्हें बुर्का अपने जीवन का अभिन्न अंग लगता है। उनकी तरफ से इस कानून का विरोध बहुत स्वाभाविक है। लेकिन शरद इस कानून की प्रशंसा भी करती हैं, जो महिलाओं को सार्वजनिक क्षेत्र में अपनी स्वतंत्र उपस्थिति के लिए एक सार्थक पहल के रूप में आया है। इसी प्रकार के अन्य कई आलेख भी इस हिस्से में शामिल किए गए हैं, जो स्त्रियों के मुद्दों पर उनकी - अपनी समझ को सामने लाते हैं।

स्त्री की दूसरी तस्वीर के भीतर हिंदी साहित्य के कुछ चुनिंदा लेखक और उनके साहित्य में मौजूद स्त्री स्वर को शामिल किया गया है। इसमें चंद्रधर शर्मा गुलेरी, टैगोर, नागार्जुन, ईसुरी कवि जैसे साहित्य प्रेमियों को शामिल किया गया है, वहीं पं. मदन मोहन मालवीय के स्त्री विषयक विचारों पर भी विस्तार से चर्चा की गई है। इन सभी के माध्यम से स्त्री विषयक मुद्दों पर बेहतर साहित्य रचने और लोगों की बेहतर समझ बनाने के लिए पुरुषों के योगदान को भी प्रस्तुत किया गया है। इस खंड में बुंदेली लोक साहित्य को भी स्थान दिया गया है, जिसमें लोक में प्रचलित कथाओं एवं काव्य दोनों को शामिल किया गया है। बुंदेलखंड की प्रसिद्ध लोककथा दसामाता की कहानी के माध्यम से लोक कथाओं की पुनर्व्याख्या से मिलाने वाले नए अर्थों को प्रस्तुत किया गया है। शोध के क्षेत्र में लोक कथाओं की पुनर्व्याख्या ज्ञान के नए रास्ते हमारे सामने खोलती है। इस लोककथा के संदर्भ में शरद सिंह कहती हैं कि-यह कथा सामाजिक संरचना एवं स्त्री के लिए निर्धारित कठोर बंधनों से मुक्ति का एक रास्ता दिखाती है। इस कथा में बहू के रूप में छल द्वारा छद्म विवाह से बांध दी गई स्त्री के बंधन को तोड़कर अपने अस्तित्व को स्थापित करने का सफल प्रयास है। इस कथा की नायिका राजपूत काल में कटार से विवाह करा दिए जाने पर कटार के साथ जीवन बिताने तथा कटार के साथ सती हो जाने वाली तथाकथित 'वीरांगना स्त्री' नहीं है वरन विवाहेतर पुरुष से संतान उत्पन्न करके उसे पति के रूप में तथा संतान को वैध संतान के रूप में समाज में स्थान दिलाने वाली दृढ़ स्त्री है।

इस प्रकार लोक साहित्य में प्रतिध्वनित होते तमाम अर्थों को ढूंढ़कर उन्हें नए रूप में सामने लाने का प्रयास ज्ञान के विस्तार के लिए एक आवश्यकता भी है। लोक साहित्य में स्त्री का प्रतिरोधी स्वरूप बहुत मजबूती से मिलता है। 'पं. मदन मोहन मालवीय' के स्त्री विमर्श आलेख में मालवीय जी के जीवन की विभिन्न घटनाओं के माध्यम से उनके पर्दा, दहेज, बाल विवाह, स्त्री शिक्षा संबंधी विचारों पर चर्चा की गई है, वहीं बाबा नागार्जुन के उपन्यासों की सात नायिकाओं गौरी, माधुरी, बिसेसरी, चंपा, भुवन, इमरतिया और पारो के व्यक्तित्व में अंतर्निहित शक्ति, मुसीबत की घड़ी में उनके फैसलों के माध्यम से उनके व्यक्तित्व की मजबूती को दर्शाने का प्रयास किया गया है। इसमें एक आलेख और महत्वपूर्ण है,

'प्रवासी महिलाओं की कथाओं में स्त्री'। इस आलेख में प्रवासी महिलाओं के, पुराना परिवार, परिवेश छोड़कर नए परिवेश में आने, नए परिवेश की सांस्कृतिक भिन्नता में स्वयं को ढालने और साथ में भारतीय संस्कृति को बचाए रखने के नाम पर सारे रीति रिवाज, पुरानी मान्यताओं को ढोते रहने से उत्पन्न दरार और तनाव को बताया गया है। इसमें अमेरिका में रह रहीं सुषम बेदी की संगीत पार्टी, लंदन से जकिया जुबैरी की मारिया, ब्रिटेन की ही अचला शर्मा की चौथी ऋतु, संयुक्त अरब अमीरात में रहने वाली पूर्णिमा बर्मन की 'यूं ही चलते हुए' और ब्रिटेन की ही दिव्या माथुर की कहानी '2050' को शामिल किया गया है। ये सभी कहानियां काफी महत्वपूर्ण हैं, किंतु 2050 में भविष्य की एक नई स्थिति के ऊपर संकेत किया गया है, जिसमें एशियाई स्त्रियों को मातृत्व के लिए तरसने या कहें कि विदेशी सरकार द्वारा मां बाप बनने की इजाजत न मिलने से उत्पन्न बेबसी को दर्शाया गया है। इस कहानी में नायिका ऋचा जो कि एशियाई मूल (भारतीय) की है, वह एक बच्चे की मां बनना चाहती है, किंतु वह तब तक मां नहीं बन सकती जब तक कि उसे समाज सुरक्षा परिषद से अनुमति न मिले। एशियाई लोगों के लिए ये नियम ज्यादा सख्त हैं। देश की स्वस्थ भावी संतति के नाम पर इतने कड़े नियम कानून बनाए गए हैं, जिनमें बहुत धनवान लोग ही फिट बैठ पा रहे हैं। उसका एक महत्वपूर्ण कारण एशियाई मूल के लोगों की उस देश में जनसंख्या नियंत्रण भी है। ऋचा और उसके पति को विदेश में रहते लंबा समय हो चुका है, और उनके लिए भारत में खुद को नए सिरे से स्थापित करना बहुत कठिन है। कुछ उनके रहन-सहन के स्तर के कारण और कुछ उनकी वित्तीय सीमाओं के कारण वे भारत में रहने की स्थिति में भी नहीं आ पा रहे हैं। वे नए-नए तरीके सोचते हैं, कभी उन जोड़ों से शादी करने की बात, जिनमें से एक का चयन बच्चे पैदा करने के लिए हो चुका है, कभी भारत में अपने दोस्तों के साथ एक घर खरीदने और खर्च में एक दूसरे की हिस्सेदारी को लेकर। अंत में वहीं पर रहकर मुट्ठी भर लोगों के साथ सरकार की इस नीति का विरोध करने के अलावा उन्हें कोई भी रास्ता नहीं सूझता और वे इसी पर आगे बढ़ चलते हैं। इस प्रकार साहित्य में प्रस्तुत विभिन्न स्त्री स्वरों को शरद सिंह इस तस्वीर में प्रस्तुत करती हैं।

औरत की तीसरी तस्वीर में शरद सिंह वेश्यावृत्ति के वैधानिक दर्जे, जबरन गर्भपात कराना या रोकना, महिला तस्करी, खाप पंचायत और हिंसा, महिलाओं का बाजारीकरण, प्रेम में धोखे, लिव-इन-रिलेशन, घरेलू हिंसा, तीन तलाक जैसे मुद्दों पर आलेख प्रस्तुत करती हैं। इसी में एक आलेख उन्होंने 'आवश्यकता है महात्मा गांधी के स्त्री विमर्श को समझने की' नाम से भी लिखा है। इस आलेख में गांधीजी के महिलाओं संबंधी विचारों को प्रस्तुत किया गया है। साथ ही उनकी प्रासंगिकता पर भी चर्चा की गई है। स्त्री शक्ति के संदर्भ में महात्मा गांधी के विचार व्यक्त किए गए हैं कि जिस प्रकार एक सशस्त्र पुरुष के सामने निःशस्त्र पुरुष कमजोर प्रतीत होता है, ठीक उसी तरह सर्वाधिकार प्राप्त पुरुषों के सामने स्त्री अबला प्रतीत होती है जो कि अबला नहीं है। उनका कहना था कि ''उन्हें अबला पुकारना महिलाओं की आंतरिक शक्ति को दुत्कारना है।'' महात्मा गांधी स्त्री के शरीर पर उसके अधिकार की वकालत करते हैं। आज यह बात बहुत महत्वपूर्ण हो जाती है क्योंकि आज भी महिलाएं अपनी देह पर अपने अधिकार के लिए संघर्षरत हैं। महिलाओं के साथ बलात्कार, उनके जबरन विवाह, उनकी गतिशीलता, प्रजनन आदि पर नियंत्रण इसी बात के प्रतीक हैं कि महिलाओं की देह पर उनका नियंत्रण नहीं है। महात्मा गांधी का मानना था कि सामाजिक व्यवस्था ने स्त्रियों को संयमित रहने का पाठ हमेशा पढ़ाया है किंतु पुरुषों को भी इस संयम के पाठ की आवश्यकता है। शरद सिंह का आखिरी आलेख 'स्त्री, प्रेम और राह देखती राजकुमारी' के माध्यम से प्रेम करती कई लड़कियों के धोखे के शिकार बनने के मुद्दे को सामने रखती हैं। वे कहती हैं कि क्या वह प्रत्येक स्त्री वह परी राजकुमारी नहीं है, जो किसी से प्रेम करती है, प्रेम के लिए अपने माता-पिता का परिवार छोड़ती है, धर्म बदलती है, प्रेम के विश्वास में जीती है और प्रेम का विश्वास टूट जाने पर या तो किसी षड्यंत्र का शिकार बनती है या फिर स्वयं को दंडित करती हुई आत्महत्या का रास्ता चुन लेती है, जबकि राजकुमार जैसे वादा करके भूल जाने वाले पुरुष स्त्री से उसकी सामाजिक, मानसिक और जीवन की शक्ति छीन लेते हैं और अपने ढंग से अपना जीवन जीते रहते हैं। इस प्रकार लेखिका प्रेम जैसे संवेदनशील भाव में भी स्त्री को वास्तविकता से रु-ब-रु कराती हैं ताकि वह प्रेम करे, पर वही उसके जीवन का अंतिम लक्ष्य न हो। वह सिर्फ किसी का इंतजार करती हुई स्त्री ही ना हो बल्कि वह जीवन के अन्य दायित्वों को निभाती हुई आगे बढ़ने वाली स्त्री बने। इस प्रकार औरत की तीसरी तस्वीर में भी लेखिका महिलाओं के शारीरिक, मानसिक और आर्थिक प्रताड़ना जैसे मुद्दों को सामने लेकर आती हैं और महिलाओं को एक दृष्टि भी देती हैं कि वे इन अन्यायों को समझें और उसका प्रतिकार करें।

इस प्रकार इस पुस्तक के माध्यम से शरद सिंह स्त्री जीवन से जुड़ी हुई समस्याओं, उनके समाधानों के प्रयास और स्त्री के भीतर के विस्तार को पाठको के सामने लाती हैं। जटिल मुद्दों को बहुत ही सरल और स्पष्ट भाषा में सामने रखा गया। इस पुस्तक के आलेखों में विषय का विस्तार नहीं किया गया है। उस क्षेत्र की एक जानकारी उपलब्ध कराने का प्रयास है। अतः ये आलेख बहुत शोधपरक तो नहीं हैं, पर यह शोध के लिए नई दिशाएं दिखाने के लिए महत्वपूर्ण अवश्य हैं। हर आलेख अपने ऊपर एक गहन शोध की मांग करता है। साहित्य के साथ स्त्री अध्ययन और स्त्री विमर्श के अध्येताओं के लिए यह पुस्तक रुचिकर रहेगी। ■

षड्यंत्र को उधेड़ती पुस्तक

■ **प्रमिला वर्मा**
साहित्यकार

संपर्क : 1/1, स्नेह नगर,
सरकारी आवास
गवर्नमेंट इंजीनियरिंग
कॉलेज के सामने,
रेलवे स्टेशन रोड,
औरंगाबाद-431005 (महाराष्ट्र)

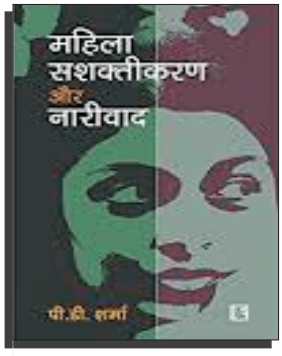

पुस्तक : महिला सशक्तीकरण और नारीवाद
लेखका : पी.डी. शर्मा
प्रकाशक : रावत पब्लिकेशन, जयपुर
पृष्ठ : 212
मूल्य : ₹ 750

सिमन डी बोउवा का कहना है कि ''महिलाएं पैदा नहीं होती, बल्कि बनाई जाती हैं।'' यह कथन सत्य है। औरत इसे धर्म, संस्कृति और पैट्रिआकी का एक षड्यंत्र मानती हुई, विवाह और परिवार की दोनों संस्थाओं को नए ढंग से गढ़ना चाहती हैं। पूरी पुस्तक एक समाजशास्त्री, कथाकार आदि के दृष्टिकोण से पढ़ने के बाद यही लगता है कि यह कृति महिला सशक्तीकरण की दिशा में एक सार्थक कदम है। वैसे तो महिला सशक्तीकरण महिला विमर्श की अनेक किताबें इस समय चहुंओर उपलब्ध हैं लेकिन यह पुस्तक नारीवादी सशक्तीकरण की दिशा में लिखी गई एक महत्वपूर्ण पुस्तक है। प्रथम अध्याय में महिला मुक्तिकरण का नारीवाद संघर्ष है।

लेखिका कहती हैं नारी शक्ति का विचार सरकारों या शासकों से स्वीकार करवाना इतना कठिन कार्य कभी भी नहीं रहा जितना समाज के साधारण व्यक्ति से मनवाना कि नारी को पुरुष के आधिपत्य से मुक्ति दिलवाकर घर, परिवार और समाज के सभी स्तरों पर एक 'इंसान' के रूप में गरिमा दी जाए और दिलवाई जाए। (पृ. 3)

पूरी दुनिया पुरुष प्रधान है, नारी को अपनी मातृत्व और पुरुष के मुकाबले बल में कमी के चलते पुरुष की आश्रिता बनने को बाध्य किया है। नारी को दूसरे घर में आश्रय लेना और इसी के कारण निरंतर प्रताड़ित होते रहना भी इसका एक कारण है। भीष्म पितामह की उपस्थिति में द्रोपदी को नग्न करने की कोशिश की जाती है, चीरहरण होता है, वह भी एक भरी सभा में जहां पुरुषों की ही उपस्थिति थी ऐसे में नारी किस-किस से लड़े। लेखिका मानती हैं कि पूर्वी नारी को पुरुष के कारागार से मुक्त कराने में ज्यादा बड़ा संघर्ष करना पड़ेगा। लेखिका ने बहुत बारीकी से इन संदर्भों का अध्ययन किया है बल्कि ऐसे उदाहरण भी प्रस्तुत किए हैं, जो नारी विमर्श लिखने वाली लेखिकाओं के समक्ष प्रश्न चिह्न भी लगाती हैं। लेखिका हर कोनों तक पहुंचने में कामयाब रही हैं। उन्होंने आदम और ईव को बराबर का पापी घोषित किया। इस संबध में उन्होंने आगे इसकी कोई व्याख्या नहीं की तो मैं भी कहने में असमर्थ हूं, कि क्यों? उन्होंने अफ्रीका की ट्राइबल महिलाओं का संघर्ष भी बताया है और सफेद ईसाई महिला के नारीवाद आंदोलन का भी जिक्र किया है। पश्चिम में समझौतों के विवाह खुलेआम चलते रहे। कानून का हवाला देकर गुजरात में भी 1992 से भी और पहले इस तरह के विवाह मान्य हुए थे जिसमें कानूनी लिखा पढ़ी होती थी और स्त्री-पुरुष साथ रहने लगते थे। यह कानून की आड़ में स्त्री के साथ बड़ा षड्यंत्र था जो बंद कर दिया गया क्योंकि ऐसी संतानों को अपना नाम देने में पुरुष पीछे हटने लगे थे। अध्याय एक बहुत महत्वपूर्ण है इसमें सशक्तीकरण की चार यूरोपीय लहरों का विस्तृत वर्णन है। दूसरे अध्याय में नारी जीवन पर खंडित दृष्टियां हैं जिनमें बताया गया है महिलाएं पैदा नहीं होतीं बनाई जाती हैं। इसका उल्लेख पहले ही किया जा चुका है।

लेखिका कहती है कि जिस इतिहास को पुरुष रचित माना जाता है वह महिला निर्मित अधिक है। साहित्य, संगीत और कला में महिला बिंब को निकाला जाए तो वह असत्य और अशुद्ध हो जाता है। यहां उन्होंने बतौर उदाहरण सीता, द्रोपदी, हैलन ऑफ ट्राय ईव, समाग्री नूरजहां और अभिनेत्री हेमामालिनी का नाम लिया है जो धर्म इतिहास दर्शन और साहित्य की दुनिया में इन्हें पुरुष अपनी-अपनी खंडित दृष्टियों में देखते रहे हैं।

आज की नारी क्या चाहती है, स्पष्ट तो है लेकिन वह पुरुषों द्वारा उनके वैज्ञानिक विकल्पों को भी स्वीकार करती है और पुरुष उनके इन बनाए विकल्पों की मनवाना चाहता है, जहां वह उनके अनुसार ही सोचने और मानने को बाध्य है।

यहां साहित्यकारों की कलाबाजियों का भी विस्तृत वर्णन है और यौवन तथा सौंदर्य का खंडित चिंतन भी। घर की चहारदीवारी में भी कैद करने का उन्होंने बहुत अच्छा वक्तव्य दिया है कि नारी की संतान तो प्रजनन के तथ्य से प्रामाणिक है पर पुरुष बीज (बिना डीएनए की खोज के) किस प्रकार प्रामाणिक माना जाए। इसीलिए महिला को अपने घर की चारदीवारी में कैद कर लिया। लेखिका ने देहयष्टि की भिन्नता का यह भेदभाव 2012 का एक उदाहरण दिया है, जिसमें न्यायाधीश यह कहते हैं कि यदि महिला सुहागरात को अपने पति को रतिसुख

नहीं दे सकती तो पुरुष तलाक लेने का अधिकारी है। युवा सेक्स संबंधों में नारी की स्थिति, बलात्कार, वैश्यावृत्ति विवाह, परिपूर्णता की रोमांटिक, संतुष्टि एडम आवश्यक है पर ईव आकर्षक रहेगी, संस्थाएं विश्वास से नहीं चल सकती, समाजवादी देशों का मार्क्सवादी चिंतन आदि की विस्तृत व्याख्या है।

अध्याय तीन असुरक्षा के जोखिमों से घिरी 'स्त्रीदेह' करीब 28 पृष्ठों में है। क्या लिखूं की तर्ज पर इसके शीर्षकों का वर्णन करना ही उचित होगा। जिसमें नारी देह की निजता, स्वतंत्रता और समानता के दैहिक जोखिम यौन संबंधों की एकाधिकारिकता विवाह और परिवार में नारी की मनोदशाएं, मां की दैहिक सुरक्षा एक नवजात का बाल अधिकार है, देह के जोखिम के अंतर्गत लेखिका ने भारतीय परिवार की संरचना में नारी के स्वतंत्रता और समानता के आधार पर काफी विस्तृत वर्णन किया है, जिसमें उन्होंने बताया कि दुल्हन बारात लेकर नहीं जाती बल्कि वह तो दुल्हे के घर में एक दान में लाई नारी है। अब दान का उपभोग कैसे भी किया जाए। इसमें उन्होंने पौराणिककाल के उदाहरण लिए हैं, द्रोपदी, कुंती, उर्मिला, सीता आदि। यहां तक कि गौतम बुद्ध ने यशोधरा को कब समानता की स्वतंत्रता दी? आदि जैसे प्रश्न चिह्न लेखिका उठाती हैं। एक जगह लेखिका कहती हैं कि पश्चिम में नारी ने बहुत ईमानदारी से अपने पक्ष सामने रखे और परिवारों को अलग कर दिया। अर्थात् संयुक्त परिवार टूटे और एकल परिवारों ने जन्म लिया। हमारे देश में परिवार तो बने शुरू में, बहुत हद तक संयुक्त परिवार ही रहे परंतु उसमें कैद स्त्रियां अपने 'स्व' को पाने के लिए गुलामी और प्रताड़ना सहती रहीं। कहना न होगा कि प्रौढ़त्व में आने के बाद ही यहां की स्त्री को थोड़ी-बहुत स्वतंत्रता मिल पाई। सच तो यह है कि पुत्र में सुरक्षा ढूंढने वाली भारतीय नारी अपनी पुत्रवधू को एक सौतेली बेटी का जितना अधिकार भी नहीं देती।

पूरी दुनिया पुरुष प्रधान है, नारी को अपनी मातृत्व और पुरुष के मुकाबले बल में कमी के चलते पुरुष की आश्रिता बनने को बाध्य किया है। नारी को दूसरे घर में आश्रय लेना और इसी के कारण निरंतर प्रताड़ित होते रहना भी इसका एक कारण है। भीष्म पितामह की उपस्थिति में द्रोपदी को नग्न करने की कोशिश की जाती है, चीरहरण होता है, वह भी एक भरी सभा में जहां पुरुषों की ही उपस्थिति थी ऐसे में नारी किस-किस से लड़े।

अध्याय चार में 'विवाह और परिवार की संस्थाओं का नारीवादी विरोध' पर चर्चा करते हुए पुरुष वर्चस्व को एक षड्यंत्र के रूप में बताया गया है। अर्थात् वे लिखती हैं कि नारीवादी सभी विचारक और आंदोलन करने वाली महिलाएं पैट्रिआकी की घनघोर विरोधी रही हैं। यानी पुरुष वर्चस्व विवाह और परिवार पर हावी रहा है। विवाह की प्रथा स्त्री-पुरुष के दैहिक संबधों को एक पवित्र रूप देती है और परिवार बच्चों के लिए है जहां बच्चों का लालन-पालन होगा। अगर, विवाह संस्था नहीं होती तो सेक्स का खुला तांडव समाज में देखने को मिलता। लेकिन, धर्म ने इसको दूसरा ही रूप देकर पुरुषों को प्रधान बना दिया कि नारी का 'स्व' इस विवाह और परिवार में उलझ कर रह गया। यह दोनों संस्थाओं ने नारी को पराधीन बना दिया, जबकि परिवार नामक संस्था को गाड़ी के दो पहियों के रूप में पुरुष-स्त्री को समान रूप से चलना चाहिए था। लेकिन मैरिटल रेप को आप क्या कहेंगे? लेखिका का कहना है कि विवाह में भी बलात्कारी यौन हिंसा हो सकती है।

संसार की अधिकतर महिलाएं (नारीवादी) स्वतंत्रता और समानता की पक्षधर होने के कारण विवाह और परिवार की आदिम संस्थाओं की घनघोर विरोधी हैं। अन्य महिलाओं के साथ-साथ इन दो महत्वपूर्ण महिलाओं का नाम सिमन डी बुआ और कैट मिलर हैं जिन्होंने पुरुष प्रधान व्यवस्था का घोर विरोध किया और इसे नारी के प्रति शोषणकारी माना। इस अध्याय में जो अन्य गंभीर विषय लिए गए हैं उनमें है- परिवार का दायित्वबोध परिवार एक सभ्य जीवन जीने का प्रयास है, कंडोम क्रांति की दैहिक समानता वैवाहिक सेक्स संबधों की शिथिलता, शहरी जीवन की संबंधहीनता, परिवार केंद्रित बंद समाज, व्यक्ति केंद्रित उन्मुक्त समाज, मार्क्सवादी सामाजिक परिवार, परिवार-समाज और राज्य जेंडर जस्टिस का विमर्श, सामाजिक संतान और महिला दायित्व। और अंत में यह विमर्श नारी की स्वीकृति चाहता है।

अध्याय पांच में ''यौन सहचर्य की सेक्स शिक्षा वैवाहिक हिंसा घटाती है'' के बारे में गहराई से विवेचन किया गया है। एक वरिठ आई.पी.एस. अधिकारी का अध्ययन केवल रोचक ही नहीं है, सही भी है कि अतीत में भी कमजोर महिलाएं पुरुषों की हवस का शिकार होती थीं। लेकिन आज भी यह सही लगता है।

लेकिन बलात्कार को क्या कहेंगे जब एक उमंगों से भरपूर लड़की अपने पुरुष मित्र के साथ अपने घर जा रही थी तब पांच दरिंदों ने उसे चीथ कर रख दिया। (दिल्ली का निर्भया कांड) शायद वह कमजोर नहीं थी, लेकिन पांच दरिंदों का मुकाबला तो एक हट्टा-कट्टा पुरुष भी नहीं कर सकता, जबकि नारी स्वभावतः और शारीरिक रूप से भी दरिंदों से तो कमजोर ही होती है।

इसमें यौन हिंसा का मनोविज्ञान बताते हुए भारतीय नारी और पश्चिमी नारी सामने आती है। इसमें डेटिंग का गैटिंग स्टडी स्टेज कहा जाता है। दूसरा शीर्षक विवेकाधारित सहचर्य का यौन संबंध, विवाह का आधार सहमति, सहभागिता और विवेक है। दांपत्य संबंध नहीं, सहचर्य है। नर-नारी सहचर्य एक ऊर्जा प्रबंधन है। और अंत में यौन उत्पीड़न का

वैवाहिक टॉर्चर है। कभी-कभी यौन हिंसा स्त्री को इतना अवसाद दे देती है कि वह ऊबर नहीं पाती और आत्महत्या की ओर अग्रसर होती है। यह तब होता है जब पति-पुरुष द्वारा नहीं बल्कि अलग ही पुरुष द्वारा सताई गई हो। लेकिन यौन हिंसा परिवार में भी देखने को बहुतायत से मिलती है। जैसा कि हर दिन पढ़ने को मिलता है कि शादी का झांसा देकर स्त्री के साथ महीनों बलात्कार किया। इसमें स्त्री को कुंठा-निराशा इतनी हो जाती है कि वह आत्महत्या की ओर अग्रसर हो जाती है।

अध्याय छः 'विज्ञान के युग के नारीवादी विकल्प' को बताता है। लेखिका कहती हैं कि तीन यहूदी विचारकों ने बीसवीं सदी को मौलिक रूप से बदला है। इसमें सिग्मन फ्रायड, वैज्ञानिक एल्वर्ट आइंसटीन और कार्ल मार्क्स हैं। इन तीनों वैज्ञानिक ने जिन विचारों को सामने रखा उसमें विवाह द्वारा प्रजनन और परिवार नाम की संस्था का समाज में समाजीकरण है, यह एक बहस का मुद्दा बन चुका है। भारत में नारीवादी क्रांति बड़ी तेजी से आगे बढ़ रही है। लेकिन इन नारीवादी महिलाओं से यह भी पूछा जा रहा है कि आखिर विकल्प क्या है? यदि विवाह गुलामी है और परिवार तथा बच्चे उनकी आजादी छीनते हैं, लेकिन नारीवादी महिलाएं यह मानते हैं कि दांपत्य संबंध जीवन स्त्री पुरुष दोनों के लिए मधुरता से भरा हो और पुरुष महिला का शोषण न करें। इस अध्याय में भी जिन बिंदुओं पर गंभीरता से प्रकाशन डाला गया है उनमें विवाह के सारे विकल्प सदैव खुले होने चाहिए, संतानोत्पत्ति सुरक्षा की खोज है, महिला अधिकार भी एक मानव अधिकार है, एवं पुरुष वर्चस्व ने विवाह संबंध को हिंसा दी है, यौन सुख हिंसा है, लव और रोमांस में वासना तत्व क्या मातृत्व ही नारीत्व है।

पत्नियां सेक्स सुख की निजता के कारण दांपत्य की असफलता को भुगत रही हैं। केरनव्हेली के मतानुसार यौन संबंधों को हर उम्र में सब के लिए ऐच्छिक माना जाए और संतान केवल सहमति से अदैहिक (बाय इनजेक्शन) अस्पतालों में ही पैदा की जाए। केरनव्हेली के मत को कौन स्वीकार करेगा, यह समय बताएगा। सातवां अध्याय सशक्तीकरण का नारीवाद है जिसमें उपभोक्तावादी और मार्क्सवादी दृष्टियां हैं।

जेंडर की अक्षमताओं के कारण नारी सभी समाजों में दुर्बल, उपेक्षित, पीड़ित और पिछड़ी हुई मानी जाती है। विवाह, बच्चा पैदा करना और समाज की संरचना ही पुरुष सत्तात्मकता को जन्म देती है। यहां यह गंभीर विषय है कि स्त्री की मानसिकता ही बदल चुकी है। सभी समुदायों में यह माना जाता है कि वह बच्चे पैदा करने की मशीन है और वह दोयम दर्जे की है। लेकिन अब लंबे समय से एक क्रांति ने जन्म लिया है जिसमें स्त्री ने अपने आप को सशक्त सिद्ध किया है। इस अध्याय में भी महत्वपूर्ण बिंदु हैं जिनपर चर्चा की गई है- मुक्ति के लिए शक्ति एक पूर्व स्थिति है, नारी सौंदर्य स्वास्थ्य और संपत्ति का मनोविज्ञान, सौंदर्य स्वास्थ्य और परिवार नारी सौंदर्य का मनोरंजनवादी उद्योग, उपभोक्तावादी बाजारवाद, महिला स्वास्थ्य ही सौंदर्य है, नारी स्वास्थ्य के संकट, विवाहोपरांत का महिला स्वास्थ्य और बीमारियां, संपत्ति पर महिला दृष्टि, पुरुष वर्चस्व और महिला संपत्ति, सशक्तीकरण महिला को एक आर्थिक इकाई बनाता है। महिला सशक्तीकरण के कानून नहीं बन पा रहे हैं, लेकिन महिलाएं अपनी लड़ाई स्वयं लड़ रही हैं।

अध्याय आठ 'विरोधाभासी पूर्णता का स्त्री विमर्श है।' नारी की पीड़ा न जाने कितनी शताब्दियों से कुचली गई है। न उनकी जिंदगी में कोई विकास हुआ न ही सशक्तीकरण। अपने आप को अबला कहलाती हुई वह सदियों से ऐसी ही जी रही थी। लेकिन स्वतंत्रता प्राप्ति के पश्चात् पूरे विश्व की नारियों ने कुछ तो क्रांतिकारी परिवर्तन चाहें और किए भी। यह उबाल तो आना ही था। ज्वालामुखी धुआं-धुआं होकर एक दिन विस्फोट बन ही जाता है। वही हुआ लेकिन अनेक पहलुओं को देखें तो आज भी नारी न ही समानता का दर्जा हासिल कर पाई है, न ही सौ प्रतिशत अपनी दासता की पीड़ा से मुक्त हो पाई है।

दांपत्य, परिवार और शारीरिक सुख प्राप्ति यह तीनों ही एक बौद्धिकता चाहते हैं। यह हार जीत का खेल नहीं है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है और परिवार उसका विशेष अंग। परिवार के बिना समाज की कल्पना नहीं की जा सकती। नारी विमर्श इस विचार को उर्वर बना रहा है जो कभी एक संवाद का विषय था और अब विवाद का एक ज्वलंत मुद्दा है। कुल मिलाकर पी.डी. शर्मा की पुस्तक बेहतरीन है जिसमें संपूर्ण विश्व का नारी विमर्श समाया हुआ है। ■

दीनदयाल और अंबेडकर के बहाने

■ अशोक नाथ त्रिपाठी

संपर्क :
असिस्टेंट प्रोफेसर
हिंदी एवं तुलनात्मक
साहित्य विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय
हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

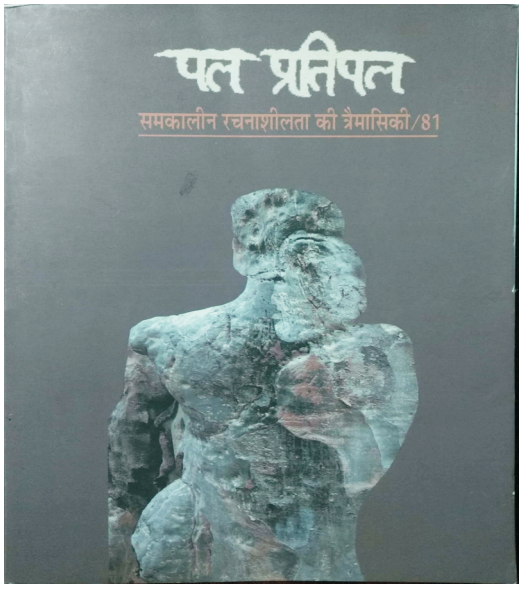

पल प्रतिपल

पल प्रतिपल-81 (जनवरी-सितंबर 2017) : हिंदी की चर्चित पत्रिकाओं का जब भी उल्लेख किया जाता है तो देश निर्मोही के संपादन में आधार प्रकाशन, पंचकूला से निकलने वाली पत्रिका 'पल प्रतिपल' का नाम बड़े सम्मान के साथ लिया जाता है। यह पत्रिका अपने रचनात्मक वैविध्य के कारण इकतीस वर्षों से पाठकों के बीच अपनी उपस्थिति बनाए हुए है। प्रस्तुत अंक को उसी के विस्तार के क्रम में देखा जा सकता है। देश निर्मोही अपने संपादकीय 'वर्चस्वी भूख और कमजोरी के जीने का जुगत' का आरंभ लिजवी कलसन की कविता से करते हैं- 'किसने बनाया ये कानून/किसने बनाया ये दस्तूर की घास के मैदानों में यूं ही मर-खप जाए इनसान?/किसके कहने पर खेली जाती है गलियों में खून की होली/कौन है जो बागीचों को भर देता है हड्डियों के ढेर से/किसके चलते बिखरा है इस पहाड़ियों पर खून और मांस और मज्जा/ किसने बनाया ये दस्तूर।' कोई भी पाठक यदि इस कविता की पूरी तैतीस पंक्तियां पढ़ेगा तो सामन्य तौर पर भी यह उन्हें उच्च संवेदना की कविता नजर आएगी और यह है भी। इसके संक्षिप्त संदर्भ को जानने के लिए इसके अर्थ का विस्तार हो जाता है। इसके लेखक ने अपना जीवन एक स्तंभकार के रूप में शुरू किया था लेकिन मजबूरन उन्हें विश्व युद्ध में सहभागी बनना पड़ा और अक्टूबर 1916 में सीने में गोली लगने से उनकी मृत्यु हो गई। मृत्यु के बाद जब कमरे की तलाशी ली गई तो यह कविता बरामद हुई। हम प्रायः देखते हैं कि युद्ध में दो पक्ष होते हैं-एक आक्रमण करता है तो दूसरा बचाव लेकिन युद्ध दोनों ही लड़ते हैं। निर्मोही कहते हैं 'एक नियति का खेल है तो दूसरी फिक्र की परछाईयां।' यह वर्तमान की भी समस्या है कि हमें फिक्र की परछाईयों ने घेर रखा है। एक बात की ओर इशारा करते हैं कि युद्ध सिर्फ सीमाओं पर ही नहीं लड़े जाते अपितु अब जीवन के हर क्षेत्र में युद्ध की स्थिति बन गई है। राजकुमार राकेश ने ''न्यू इंडिया' का उत्तर सत्य' और अच्युतानंद मिश्र ने अपने आलेख का शीर्षक दिया है 'आजादी के बाद भारत'। इन दोनों लेखकों ने भारत की वर्तमान स्थिति को अपने नजरिए से देखने का प्रयास किया है। मिश्र का मानना है कि उन्नीसवीं सदी ने सुखद भविष्य के स्वप्न को सामूहिक स्वप्न में बदलने का प्रयत्न किया। उन्होंने अपने आलेख के माध्यम से कई मौजूं सवालों को खड़ा किया, मसलन् आजादी के बाद की भारतीय संस्कृति पर बात करने के तात्पर्य क्या हैं? वर्तमान में भारत की अवधारणा को समझने का रास्ता क्या है? क्या हम उसे सांस्कृतिक विकास के रास्ते समझ सकते हैं?

आजादी के पश्चात् जनता की सामूहिक स्मृति में क्या बचा रह गया है? स्वतंत्रता संघर्ष ने भारतीय जनमानस के 'स्व' को कितना निर्मित किया? विभाजन की त्रासदी के बाद हम कितने मनुष्य बचे? इस तरह के तमाम सवाल खड़े करते हैं और उसका उत्तर भी तलाशने की कोशिश करते हैं। अंत में उनका निष्कर्ष यह है कि हमने उत्तर तो खूब ढूंढे लेकिन वे सवाल ही खो गए जिससे आज का बड़ा तबका अपना सरोकार रखता है। विशेष स्तंभ के माध्यम से विदेशी रचनाकारों की रचनाओं को देखा जा सकता है। नुग्गी वा थ्योंगो के उपन्यास 'विजर्ड ऑफ द क्रो' का अनुवाद अंश 'कौवे का जादूगर' जिसका अनुवाद रेयाज उल हक ने किया है तथा सिद्धेश्वर सिंह द्वारा ट्यूनीशियाई कवि मोहम्मद गाजी, पोलिश कवि हालीना पोस्वियातोव्सका, अमरीकी कवि बिली कालिंस, सीरियाई कवि लीना टिब्बी, चिलियन कवि पाब्लो नेरूदा सरीखे बीस कवियों की कविताओं का अनुवाद प्रस्तुत किया गया है। इन अनुवाद के माध्यम से कवियों की तात्कालिक चिंताओं को देखा जा सकता है। प्रसिद्ध कथाकार काशीनाथ सिंह

किसी महापुरुष के विचार जब तक आचरण में शामिल न किए जाएं तब तक विचारों का कोई मूल्य नहीं है। किसी के विचारों से असहमतियां भी हो सकती हैं और होनी भी चाहिए लेकिन यह तब संभव होगा जब हम उन्हें अपने जीवन में शामिल करें।

से प्रियंका कुमारी का साक्षात्कार दिया गया है। इस साक्षात्कार के माध्यम से लेखक की रचना प्रक्रिया से जुड़े कई महत्वपूर्ण बिंदुओं को जाना जा सकता है। मसलन् साक्षात्कार के एक सवाल जिसमें यह पूछा गया कि 'साठोत्तरी कहानी के बाद कथा साहित्य में आए अब तक के बदलावों को आप किस तरह देखते हैं' जिसके जवाब में काशीनाथ सिंह बड़े बेबाकी से उत्तर देते हुए कहते हैं कि 'मेरे उम्र के लोग यह मानते हैं कि साहित्य का ह्रास हुआ है। साहित्य आज हाशिए पर चला गया है लेकिन वह इस बात को लेकर आशान्वित भी दिखते हैं कि कल कोई बड़ा लेखक पैदा हो सकता है।' इस वार्ता में जहां पीढ़ी के अंतराल का संकट है वहां आशा की किरण देखना सुखकर प्रतीत होता है। बड़े रचनाकार की यही खासियत होती है कि उसके यहां संभावनाएं मरती नहीं हैं, कई तथ्यों को इस साक्षात्कार के माध्यम से जाना जा सकता है। देवेंद्र पाल की 'अखाड़ा', रणेंद्र की 'बाबा, कौए और काली रात' कहानी अच्छी लगी। निर्मल बंजारन के आलेख 'उत्तरशती आलोचना की उपलब्धियां और सीमाएं' में इस बात को रेखांकित किया जा रहा है कि इस उत्तरार्द्ध में जो बदलाव हुए हैं उससे साहित्य भी अछूता नहीं रह सका है बल्कि बहुत हद तक प्रभावित ही हुआ है। एक बहुत महत्वपूर्ण तथ्य की ओर इशारा भी किया गया है कि आज का समय तात्कालिकता का समय है। सोशल मीडिया, ब्लॉग, फेसबुक आदि माध्यम ने साहित्यकार के अंदर भी तात्कालिकता का प्रवेश करवा दिया है, जिस कारण आलोचकों के अंदर न तो नए सैद्धांतिकी का अवकाश है और न ही किसी विचारधारा के प्रति प्रतिबद्धता का भाव है। यह कहीं न कहीं विचारधारा का विलोपीकरण है। अपेक्षाकृत लंबे आलेख में वर्तमान समय के कई महत्वपूर्ण सवालों को उठाया गया है। समग्रता में देखा जाए तो देश निर्मोही ने हमेशा की तरह इस अंक का संयोजन बड़े मनोयोग से किया है जिसमें वे भी रचनाकारों के साथ साधुवाद के हकदार हैं।

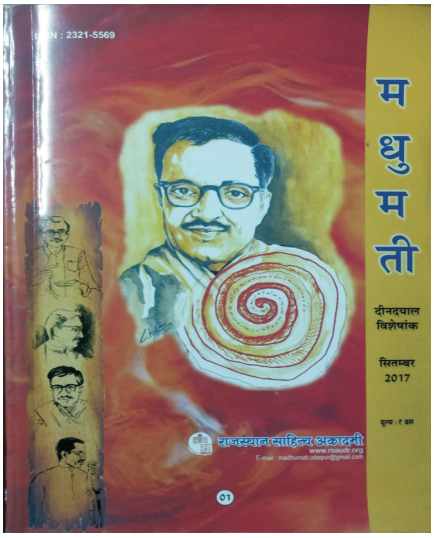

मधुमती

मधुमती (सितंबर-17) : दीनदयाल उपाध्याय एक ऐसे चिंतक हैं जिन्हें भारतीय चिंतन परंपरा में एक विकल्प के तौर पर देखा जाता है। उन्हीं सब विचारों को ध्यान में रखकर मधुमती पत्रिका के सितंबर 2017 का अंक दीनदयाल विशेषांक के रूप में संयोजित किया गया है। संपादक डॉ. इंदुशेखर 'तत्पुरुष' ने अपने संपादकीय 'भारतीय पथ का अन्वेषी : महामनीषी दीनदयाल' के माध्यम से यह बताना चाहते हैं कि गांधी के अवसान के बाद दीनदयाल उपाध्याय ऐसे चिंतक हैं जिन्होंने देसीपन की रक्षा की बागडोर अपने हाथ में ले ली। गांधीजी और दीनदयाल में अंतर बताते हुए वे कहते हैं कि गांधीजी ने अंग्रेज और अंग्रेजियत की चंगुल से देश को मुक्त कराया और दीनदयालजी ने देश को बौद्धिक गुलामी से मुक्ति दिलाने के साथ विकास का भारतीय मार्ग प्रशस्त किया। इनकी गणना जनसंघ के संस्थापकों में होती है। कई विशिष्टताओं के साथ इस अंक की यह भी विशेषता है कि इसमें दीनदयाल की रचनात्मकता से भी रूबरू हुआ जा सकता है। इसे संपादक ने दीनदयाल उवाच स्तंभ के माध्यम से संयोजित किया है। प्रतिसर्ग स्तंभ में दीनदयाल के ऊपर श्री रामनाथ कोविंद, मोहन राव भागवत, डॉ. कृष्ण गोपाल, कमल किशोर गोयनका जैसे विद्वानों की सारगर्भित टिप्पणियां हैं। श्री कोविंदजी ने 'भारतीयता की युगीन परिभाषा' नामक आलेख बिहार में राज्यपाल पद पर रहते हुए लिखा था जिसमें वह मानते हैं कि दीनदयालजी नाम लेते ही 'एकात्म मानववाद' सभी के दृष्टि पटल पर अंकित हो जाता है। वे यह मानते हैं कि पंडित दीनदयाल उपाध्याय भारतीय एकता और अखंडता को स्थापित करने के लिए सनातन भारतीयता को स्थापित किया। अगर उनके भाषागत चिंतन पर विचार करें तो उन्होंने भारतीय भाषाओं के विकास के लिए सदैव अग्रणी भूमिका निभाई है। शांता कुमार ने 'दीनदयाल उपाध्याय का चिंतन' शीर्षक आलेख में यह बताने का प्रयास किया है कि वे धरती की सच्चाई के चिंतक थे। अगर देखा जाए तो इस मामले में वे गांधीजी के समर्थक हैं क्योंकि गांधीजी भी ग्रामीण अर्थव्यवस्था के पक्षधर थे और कमोवेश उसी सैद्धांतिकी को सामने लाने का काम पंडित दीनदयाल उपाध्यायजी ने किया था। डॉ. महेशचंद्र शर्मा ने दीनदयाल उपाध्याय के दो उपन्यासों 'सम्राट चंद्रगुप्त' तथा 'जगतगुरु शंकराचार्य' का विवेचन -विश्लेषण किया है। अपने विश्लेषण के दौरान वे इस निष्कर्ष पर पहुंचते हैं कि दीनदयालजी का उद्देश्य न इतिहास रचना था और न ही साहित्य सृजन अपितु वे इसका उपयोग अपने सामाजिक, राष्ट्रीय और सांस्कृतिक विचारों के प्रचार-प्रसार के लिए किया है। डॉ. चमन लाल उपन्यासों के शिल्प पर विचार किया है। इसमें कोई शक नहीं है कि प्रस्तुत अंक में दीनदयाल उपाध्याय को विभिन्न वातायनों से देखने का प्रयास किया गया है। एक चिंतक, विचारक एवं साहित्यकार के रूप में जब भी दीनदयालजी को देखने का प्रयास किया जाएगा यह अंक उसकी तमाम शंकाओं को दूर करने का एक कारगर समाधान होगा और साथ ही वे शोधार्थी जो शोध करना कहते हैं, यह अंक उनकी जिज्ञासा को शमन करने का उपयुक्त माध्यम होगा। इतने सुविचारित अंक संयोजन के लिए संपादक बधाई के हकदार हैं।

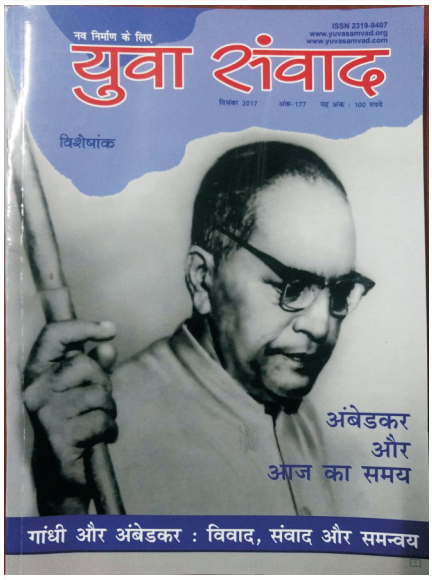

युवा संवाद

युवा संवाद (दिसंबर 2017) : 'युवा संवाद' पत्रिका लगभग पंद्रह वर्षों से प्रकाशित हो रही है। इस पत्रिका के नियमित अंकों का संपादन ए.के. अरुण द्वारा किया जाता रहा है। इस विशेष प्रस्तुति का संपादन डॉ. सुरजीत कुमार सिंह द्वारा बड़े मनोयोग से किया गया है। वैसे तो सुरजीत पालि के विशेषज्ञ हैं लेकिन वे सदैव उपेक्षित समुदाय के साथ खड़े रहते हैं। पत्रिका का यह विशेष अंक 'अंबेडकर और आज का समय' शीर्षक से केंद्रित किया गया है। इसमें गांधी और अंबेडकर को लेकर जो बहसें हुई हैं, उस पर भी सार्थक विचार करने के उद्देश्य से एक उप शीर्षक भी विकसित किया गया है-'गांधी और अंबेडकर : विवाद, संवाद और समन्वय'। इस विशेषांक को चिंतन की आवश्यकता और अध्ययन की सुविधानुसार दस खंडों में विभाजित किया गया है जो बाबासाहेब अंबेडकर के जीवन चिंतन से प्रारंभ होते हुए विस्तार पाता है। वर्तमान समय में जब मैत्री और एकता जैसी बातें जब अपना अर्थ खोने के कगार पर खड़ी हैं ऐसे समय में बाबासाहेब और गांधी को याद करना हमारी जरूरत बन जाती है। अंक के संपादक सुरजीत कुमार सिंह यह मानते हैं कि बाबासाहेब ने बौद्ध धर्म के माध्यम से पूरी दुनिया में वैश्विक एकता और मैत्री की बात की। बाबासाहेब अंबेडकर के विचारों के चिंतक संदीप मधुकर सपकाले अपने आलेख में बाबासाहेब अंबेडकर के जीवन को देखने का प्रयास किया है। इसमें उन्होंने जीवनी लेख तानाजी खरावतेकर और बाबासाहेब के बीच हुए पत्राचार का उल्लेख किया है और इसका भी उल्लेख किया है कि किस प्रकार कागज की कमी के कारण बाबासाहेब की जीवनी आधी-अधूरी प्रकाशित करनी पड़ी। इसमें उन्होंने बाबासाहेब के तत्वदर्शन, राजनीतिक कर्तव्य का संक्षिप्त परिचय दिया है। डी.एन. प्रसाद अपने आलेख 'समतामूलक समाज और अंबेडकर की प्रतिष्ठापना' में बाबासाहेब के हवाले से यह कहना चाहते हैं कि 'न्याय, सामान्यतः स्वतंत्रता, समानता एवं बंधुता का ही दूसरा नाम है। 'डॉ. अंबेडकर का स्त्री-चिंतन' नामक आलेख में मीना ने बाबासाहेब के स्त्री संबंधी विचार को देखने का प्रयास किया है जिसमें वह पाती हैं कि बाबासाहेब अंबेडकर स्वयं मानते थे कि किसी समाज का मूल्यांकन उस समाज में स्त्रियों की स्थिति को देखकर किया जा सकता है। हम सभी इस बात से वाकिफ भी हैं कि इस समस्या को ध्यान में रखकर बाबासाहेब ने 'हिंदू कोड बिल' का निर्माण किया था। चित्रलेखा अंशु ने अपने आलेख 'महिला मानवाधिकारों के पुरोधा डॉ. अंबेडकर' के माध्यम से तमाम मौजूं सवालों को देखने का प्रयास किया है और उसके समाधान के लिए अंबेडकर चिंतन सर्वाधिक प्रासंगिक दिखता है। प्रीति सागर 'दलित स्त्री के मनुष्य बनने की छटपटाहट' शीर्षक आलेख के माध्यम से इस तथ्य को सामने लाने का प्रयास करती हैं कि स्त्री की स्थिति तो सदैव से नाजुक रही है लेकिन जब उसके साथ दलित का विशेषण लग जाता है तो समस्याएं और भी बढ़ जाती हैं। उन्होंने तमिल लेखिका वामा, सुशीला टाकभोरे, रजनी तिलक, कौशल्या बैसंत्री की आत्मकथाओं के संदर्भों से अपनी सैद्धांतिकी को पुष्ट भी करती हैं। कृपाशंकर चौबे ने मीडिया में अंबेडकर की स्थिति पर अपनी बात रखते हुए अपने आलेख का शीर्षक दिया है 'डॉ. अंबेडकर, पत्रकारिता और बहुजन अवधारणा'। आलेख में वह लिखते हैं कि 'डॉ. अंबेडकर के समय भी मीडिया में जातिगत पूर्वाग्रह था और आज भी है। मीडिया संतुलन बनाए रखने के लिए हरेक तबके के लोगों का होना आवश्यक है। उन्होंने 'मूकनायक' और 'बहिष्कृत भारत' के कई संदर्भों का उल्लेख किया जिससे डॉ. अंबेडकर के पत्रकारिता को समझा जा सकता है। उनकी पत्रकारिता से यह सीख मिलती है कि जो शोषणकारी प्रवृत्तियां है उनसे हमें सजग और सतर्क रहना चाहिए। 'अंबेडकर बनाम गांधी : विवाद, संवाद और समन्वय' शीर्षक आलेख में समाजवादी चिंतक अरुण कुमार त्रिपाठी कहते हैं कि गांधी और अंबेडकर के रिश्ते को समझने के लिए दोनों के संवादों से गुजरना बहुत आवश्यक है। यदि इन संवादों की अनदेखी कर दी जाए तो दोनों को एक साथ समझना संभव नहीं है। गांधी ने जब अंबेडकर से कहा कि अस्पृश्यता निवारण कार्यक्रम कांग्रेस की सूची में जरूर था लेकिन यह सिर्फ औपचारिक सूची ही बनकर रह गई। त्रिपाठी ने अपने आलेख में गांधी और अंबेडकर से हुए सवाल और उसके जवाब के माध्यम से दोनों के रिश्तों को समझने का प्रयास किया है और उनका यह भी मानना है कि कई सारी असहमतियों के बावजूद गांधी ने भी उसी सत्य और अहिंसा के धर्म का पालन किया जो अंबेडकर के बौद्ध धर्म का मूल है। त्रिपाठी के इस लंबे आलेख में पाठकों को गांधी और अंबेडकर के रिश्तों को समझने के कई सूत्र मिल सकते हैं। किसी महापुरुष के विचार जब तक आचरण में शामिल न किए जाएं तब तक विचारों का कोई मूल्य नहीं है। किसी के विचारों से असहमतियां भी हो सकती हैं और होनी भी चाहिए लेकिन यह तब संभव होगा जब हम उन्हें अपने जीवन में शामिल करें। विशेषांक के संपादक सुरजीत सिंह इसलिए साधुवाद के पात्र हैं क्योंकि उन्होंने अथक परिश्रम के माध्यम से एक सारगर्भित पत्रिका का संपादन किया इसमें एक तरफ अंबेडकर सिद्धांत के रूप में हैं तो दूसरी ओर व्यावहारिक जीवन में भी एक समाधान के रूप में दिखाई देते हैं।

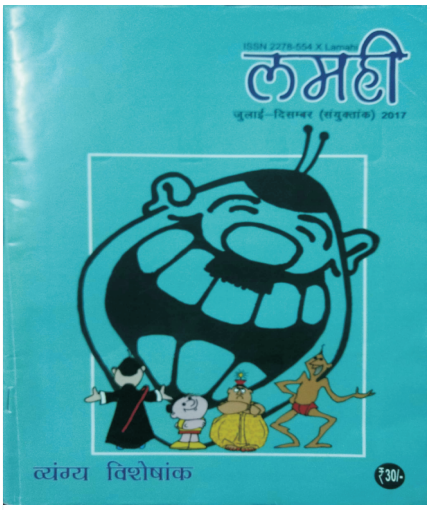

लमही

लमही (जुलाई-दिसंबर 2017) : साहित्य में व्यंग्य का महत्व अनादिकाल से रहा है। कुंतक ने तो लिख ही दिया कि 'वक्रोक्ति काव्य जीवितम्' अर्थात् जो स्वभावोक्ति होती है उसे महत्वपूर्ण साहित्य का दर्जा प्रदान करने में लोगों को असुविधा होती है। खैर, आधुनिक काल के अनेक साहित्यिक विधाओं पर विचार करते हुए व्यंग्य विधा को भी पर्याप्त महत्व का दर्जा प्रदान किया जाने लगा है। पहले के रचनाकार अपनी रचनाओं में व्यंग्य को भी स्थान देते थे लेकिन वर्तमान परिप्रेक्ष्य में देखा जाए तो अब स्वतंत्र व्यंग्य लेखकों की लंबी सूची मिल जाती है। लमही के इस अंक का स्वागत इस मायने में भी महत्वपूर्ण है कि इसने आलोच्य अंक का नियोजन पूर्णतः व्यंग्य पर ही किया है। विजय राय अपने संपादकीय में अखिलेश्वर पांडेय की कविता को उद्धृत करते हैं- 'अखबारनवीस परेशान है/अनर्गल के समुद्र में/गिर रही हैं विवार्तक नदियां/तलछट पर इधर-उधर बिखरे पड़े हैं शब्द/---/ हैरान है अखबारनवीस/ यह भाषा का कौना सा देश है/तभी अचानक लोकप्रियता की रहस्यमयी धुन बजाते/अवतरित होता है/भाषा का नट'। दरअसल यह भाषा का नट कौन है। इस सवाल का सामान्य उत्तर यही है कि रचनाकार तो प्रायः भाषा का नट ही होता है लेकिन विजय राय इसे अन्य दृष्टि से देखते हैं। उनका यह मानना है कि पहले भाषा के नटों की संख्या अधिक नहीं थी पर अब सभी विधाओं में संख्या का विस्तार हो रहा है। वह अपनी चिंता भी जाहिर करते हैं कि आज के जीवन और साहित्य में व्यंग्य कर्म की उपादेयता पर प्रश्नवाचक निशान लगा हुआ है। संख्यात्मक दृष्टि से विस्तार के बावजूद इसकी गुणात्मकता प्रभावित हुई है। साथ ही व्यंग्यकारों के लिए भी यह समय एक चुनौती भरा समय है। इस पूरे आयोजन के कई पड़ाव हैं। भुवनेश्वर उपाध्याय ने व्यंग्य की सैद्धांतिकी पर विचार करते हुए अपने आलेख का शीर्षक दिया है 'व्यंग्य : यात्रा और पड़ाव'। वे मानते हैं कि-'शाब्दिक विरोध का साहसिक प्रयास ही व्यंग्य है'। व्यंग्य में साहस एवं असंतुष्टि तथा असमर्थता की मात्रा का संतुलन आवश्यक है। साहित्यिक परिदृश्य में व्यंग्य शहद के साथ कड़वी दवा है। उपाध्याय का मानना जो कि काफी हद तक ठीक भी है कि 'व्यंग्य की सफलता के लिए दृष्टि के संतुलन के साथ बुद्धि की तीक्ष्णता और व्यंग्यकार की निर्वैयक्तिकता बहुत आवश्यक शर्त है'। उनके इस सैद्धांतिक आलेख में तमाम कोणों से व्यंग्य विधा को समझाने का सराहनीय प्रयास किया गया है। पक्ष प्रतिपक्ष स्तंभ के बहाने व्यंग्यकारों की रचना प्रक्रिया पर विचार किया गया है। अलंकार रस्तोगी ने अपने समय के वरिष्ठ व्यंग्यकार गोपाल चतुर्वेदी पर विचार करते हुए अपने आलेख का शीर्षक दिया है 'व्यंग्य की आदर्शवादी परिकल्पना के पक्षधर'। दरअसल इस शीर्षक से यह आभास होता है कि गोपाल चतुर्वेदी व्यंग्य विधा में अपना स्थान कहां रखते हैं। वे एक ऐसे व्यंग्यकार हैं जो व्यवस्थागत विसंगतियों पर चोट करते हैं। वे एक तरफ तो जड़ हो चुकी व्यवस्था को पहचानने का कार्य करते हैं और साथ ही वह उसी व्यवस्था को पुनः अपनी रचनाओं के माध्यम से चेतन बनाने का भी कार्य करते दीख पड़ते हैं। तरसेम गुजराल प्रसिद्ध कथा लेखिका सूर्यबाला के व्यंग्य साहित्य की परख करते हुए यह स्थापना देना चाहते हैं कि सूर्यबाला का कथा संसार जितना सहज है उनका व्यंग्य संसार भी लगभग उसी तरह ही है। अपने लेख 'सूर्यबाला : व्यंग्य की सहज दृष्टि' के माध्यम से यह कहते हैं कि सूर्यबाला का व्यंग्य लेखन पतनशीलता में डूबते आदमी को आदमी बनने की तमीज देने की क्षमता देता है। अन्य कई रचनाकारों ने तमाम व्यंग्यकारों के ऊपर अपने विचार रखें हैं। इस विचारों को पढ़कर व्यंग्य विधा और व्यंग्यकार दोनों को समझा जा सकता है। अंक की एक महत्वपूर्ण विशेषता यह है कि इसमें अपने समय के महत्वपूर्ण व्यंग्यकारों के साक्षात्कार दिए गए हैं। इससे उनकी व्यंग्य रचना प्रक्रिया को समझा जा सकता है। कई रचनाकारों की व्यंग्य रचनाएं अंक को और भी महत्वपूर्ण बनाती हैं। संपादकीय के तुरंत बाद एक उद्धरण नामक स्तंभ में अपने समय के महान विभूतियों के उद्धरण दिए गए हैं। जब सभी पत्र पत्रिकाएं विमर्श आदि को अपना संधान बनाते हुए आगे बढ़ रही हैं तो ऐसे समय में व्यंग्य विधा को केंद्र में रखकर बेहतरीन विशेषांक का संपादन करना निश्चय ही एक सराहनीय कार्य है, इसके लिए विजय राय और उनकी पूरी टीम बधाई की हकदार है उम्मीद है कि अगला अंक भी इसी प्रकार नियोजित करेंगे। ■

संदर्भित पत्रिकाएं

1. पल प्रतिपल-81 (जनवरी-सितंबर 2017) : सं. देश निर्मोही, आधार प्रकाशन लि., एससीएफ 267, से. -16 पंचकूला-134113 (हरियाणा) ₹ 100
2. मधुमती (सितंबर 2017) : सं. डॉ. इंदुशेखर 'तत्पुरुष', राजस्थान साहित्य अकादमी, सेक्टर-4, हिरण मगरी, उदयपुर-313 002
3. युवा संवाद (दिसंबर-2017) : सं. सुरजीत कुमार सिंह, 167 ए/जी.एच.2, पश्चिम विहार, नई दिल्ली-110063, ₹ 100
4. लमही (जुलाई-दिसंबर 2017) : प्र.सं. विजय राय, 3/342, विवेक खंड, गोमती नगर, लखनऊ-226010, ₹ 30

पुस्तकें मिलीं

और थोड़ी दूर, सच्चिदानंद विशाख, अंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद-201005 (उ.प्र.), 2012, पृ. 96, ₹ 200

परिवर्तन की ओर, अनंत विजय, शिवानंद द्विवेदी, प्रभात प्रकाशन, 4/19 आसफ अली रोड, नई दिल्ली-110002, 2017, पृ. 166, ₹ 250

घर से दूर घर के लिए, डॉ. पद्मजा शर्मा, रॉयल पब्लिकेशन, 18 शक्ति कॉलोनी, गली नं. 2, लोको शेड रोड, रातानाडा, जोधपुर-342011 (राजस्थान), 2017, पृ. 143, ₹ 250

हिंदी भाषा : स्वरूप और विश्लेषण, डॉ. शोभाकांत मिश्र, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2015, पृ. 351, ₹ 340

सुख दुख की कमीज़, श्याम सुंदर दुबे, विजया बुक्स, 1/10753 सुभाष पार्क, गली नं. 3, नवीन शाहदरा, दिल्ली-110032, 2017, पृ. 168, ₹ 350

एक गूना बेखुदी, वर्तुल सिंह, शिल्पायन, 10295, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, 2016, पृ. 112, ₹ 275

लकड़बग्घा हँस रहा है, चंद्रकांत देवताले, वाणी प्रकाशन, 21-ए, दरिया गंज, नई दिल्ली-110002, 2000, पृ. 107, ₹ 95

स्मृतिगंधा, डॉ. अमर कुमार सिंह, डॉ. (श्रीमती) भूपेंद्र कालसी, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2013, पृ. 591, ₹ 460

बिहार इंद्रधनुषीय लोकरंग, मृदुला सिन्हा, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070, 2017, पृ. 209, ₹ 340

आँखें हैं तो जहान है, डॉ. प्रेमशंकर स्वर्णकार, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070, 2017, पृ. 116, ₹ 180

प्रकृति के बदलते रंग हरित प्रौद्योगिकी के संग, डॉ. विनीता सिंघल, राष्ट्रीय पुस्तक न्यास, भारत, नेहरू भवन, 5 इंस्टीट्यूशनल एरिया, फेज-II, वसंत कुंज, नई दिल्ली-110070, 2017, पृ. 192, ₹ 200

ख़्वाब है दीवाने का, गोबिन्द प्रसाद, अनुज्ञा बुक्स, 1/10206, लेन नं. 1, वेस्ट गोरखपार्क, शाहदरा, दिल्ली-110032, 2018, पृ. 132 ₹ 150

मीरा सीकरी, आर्य प्रकाशन मंडल, 24/4855-56, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, 2017, पृ. 111, ₹ 200

जहां देवता सोते हैं, श्यामसुंदर दुबे, बोधि प्रकाशन, एफ-77, सेक्टर 9, रोड नं. 11, करतारपुरा इंडस्ट्रियल एरिया, बाईस गोदाम, जयपुर-302006, 2017, पृ. 112, ₹ 120

रसोई की खिड़की में, सुनीता जैन, अंतिका प्रकाशन, सी-56/यूजीएफ-4, शालीमार गार्डन, एक्सटेंशन-II, गाजियाबाद-201005 (उ.प्र.), 2010, पृ. 104, ₹ 200

शोक न सिंधु समाय, कृपाशंकर, साहित्य भंडार, 50, चाहचंद, इलाहाबाद-211003, 2012, पृ. 152, ₹ 250

नए औपन्यासिक मूल्य रंगों की पहचान, डॉ. सूर्यदीन यादव, नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, 2012, पृ. 166, ₹ 350

सूर्य गिरा है अभी अभी नीचे, राजेंद्र नागदेव, नमन प्रकाशन, 4231/1, अंसारी रोड, दरियागंज, नई दिल्ली-110002, 2012 पृ. 102, ₹ 150

बौद्ध-धर्म के विविध आयाम, डॉ. प्रीति कुमारी, बिहार हिंदी ग्रंथ अकादमी, पटना, 2016, पृ. 208, ₹ 180

पत्रिकाओं के प्रवेशांक

इस तरह शुरू हुई थीं ये ऐतिहासिक पत्रिकाएँ

कल्पना (सं. आर्येंद शर्मा) सन् 1949 | नयी कविता (सं. जगदीश गुप्त) सन् 1964

समय (सं. वेदनन्दन) सन् 1966 | दस्तावेज (सं. विश्वनाथ प्रसाद तिवारी) सन् 1978

नान्दी (सं. विद्यानिवास मिश्र) सन् 1987 | कथा दशक (सं. सतीश जमाली) सन् 1989

उक्त पत्रिकाओं के प्रवेशांक स्वामी सहजानंद सरस्वती संग्रहालय,
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा में संरक्षित है।

ज्ञान शांति मैत्री

प्रकाशन विभाग
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
वर्धा-442001 (महाराष्ट्र)

सदस्यता आवेदन पत्र

'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 300 रु. (व्यक्तिगत)
'बहुवचन' त्रैमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 400 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 120 रु. (व्यक्तिगत)
'पुस्तक-वार्ता' द्विमासिक पत्रिका : वार्षिक सदस्यता शुल्क : 180 रु. (संस्थाओं/पुस्तकालयों के लिए)

(नोट : केवल बैंक ड्राफ्ट स्वीकार किए जाएंगें। कृपया मनीऑर्डर एवं चेक न भेजें।)

बैंक ड्राफ्ट 'महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा के नाम देय होगा और उसे निम्नलिखित पते पर भेजने की कृपा करें। किसी भी राष्ट्रीयकृत बैंक का ड्राफ्ट स्वीकार्य होगा।

प्रकाशन प्रभारी
महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय
गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)
फोन नं. 07152-232943

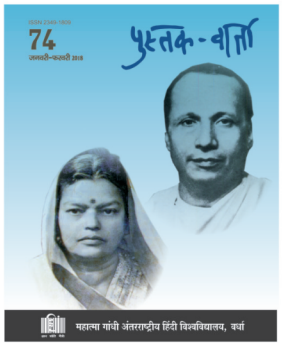

Bank Details for Online Payment :
Name: Finance Officer, Mahatma Gandhi Antarrashtriya Hindi Vishwavidyalaya, Wardha
Bank Name: **Bank of India, Wardha** Account No.: **972110210000005**
IFSC Code No.: **BKID0009721** MICR Code No.: **442013003**

बहुवचन/पुस्तक-वार्ता पत्रिका के अंक ..... से ..... के लिए

रुपये ..... का बैंक ड्राफ्ट संख्या ..... दिनांक .....

संलग्न कर रहा हूँ/कर रही हूँ, कृपया मेरी प्रति निम्नलिखित पते पर भेजे :-

नाम : .....

पता : .....

दूरभाष : ..... ई-मेल : .....

दिनांक : .....

(सदस्य के हस्ताक्षर)

विश्वविद्यालय के प्रकाशन

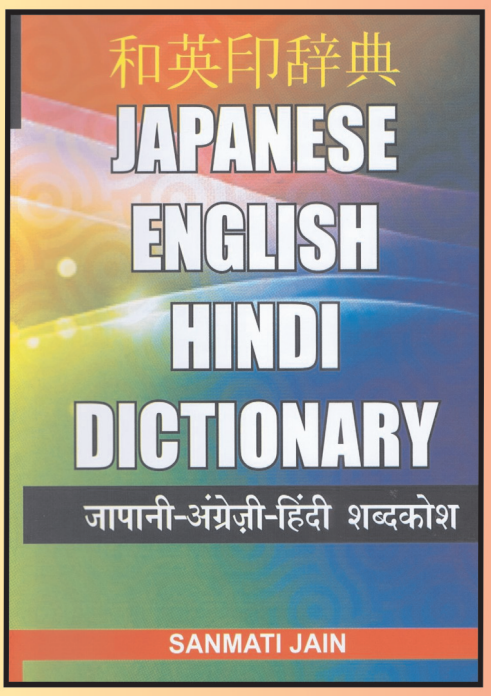

मूल्य : 595

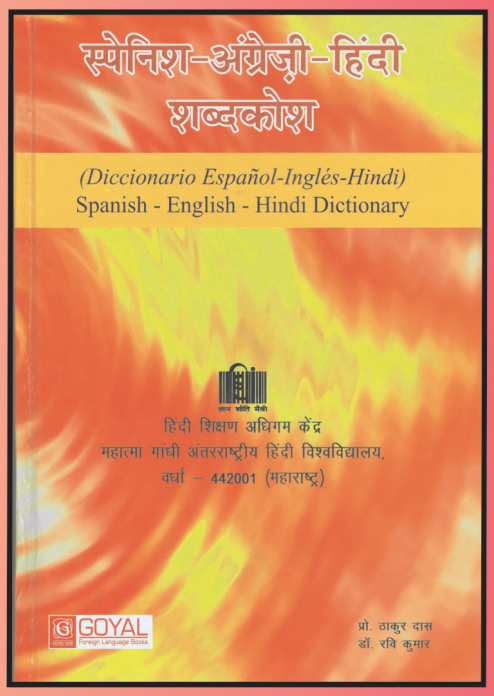

मूल्य : 550

मूल्य : 1750

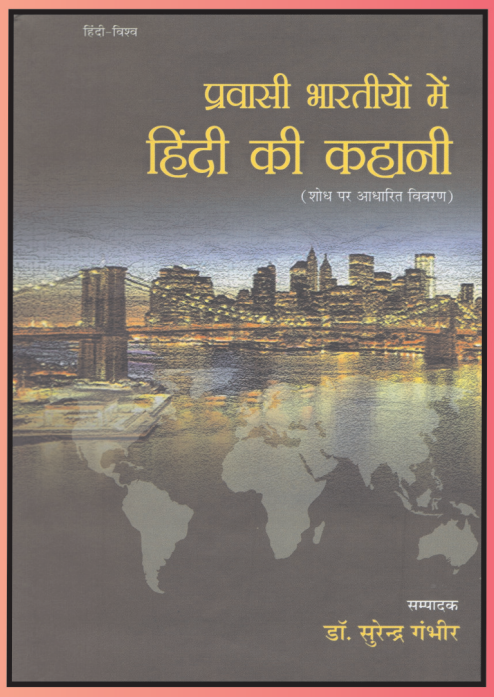

मूल्य : 400

ज्ञान शांति मैत्री

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

गांधी हिल्स, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र)

उपन्यास, कहानी, कविता, व्यंग्य, नाटक, निबंध, आलोचना, विमर्श, बाल साहित्य, संस्मरण, यात्रा वृत्तांत, सिनेमा, विविध, खोज कोश, समय-संचयन, आडियो/विडियो, अनुवाद, हमारे रचनाकार, हिंदी लेखक, संपर्क, विश्वविद्यालय, संग्रहालय, ब्लॉग समय

ज्ञान शांति मैत्री

विश्वविद्यालय की पत्रिकाएँ :

विश्वविद्यालय के प्रमुख प्रकाशन

प्रकाशन विभाग

महात्मा गांधी अंतरराष्ट्रीय हिंदी विश्वविद्यालय

(संसद द्वारा पारित अधिनियम 1997, क्रमांक 3 के अंतर्गत स्थापित केंद्रीय विश्वविद्यालय)

गांधी हिल्स, पोस्ट : हिंदी विश्वविद्यालय, वर्धा - 442 001 (महाराष्ट्र) भारत

फ़ोन : (07152) 232943, फ़ेक्स : (07152) 230903

वेबसाइट : www.hindivishwa.org